संपूर्ण विद्धानों, दार्शनिकों, संतो एवं महापुरूषों का सर्वमान्य शास्त्र–

व्याख्याकार

विश्व गुरू परमहंस स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी
महाराज के कृपापात्र

स्वामी श्री बज्रानन्द जी महाराज

प्रकाशक :

भारतीय संस्कृति सुरक्षा एवं मानव कल्याण समिति (ट्रस्ट)

श्री ब्रह्मानन्द परमहंस आश्रम, अलीगढ़ बस स्टेण्ड, छर्रा (अलीगढ़)-२०२००१
E-mail : mail.bsstrust@gmail.com
www.yatharthsandesh.com

प्रकाशक :

भारतीय संस्कृति सुरक्षा एवं मानव कल्याण समिति (ट्रस्ट)
श्री ब्रह्मानन्द परमहंस आश्रम, अलीगढ़ बस स्टेण्ड, छर्रा (अलीगढ़)-२०२००१
E-mail : mail.bsstrust@gmail.com
www.yatharthsandesh.com
Mob. : 09412459535

आश्रम :
श्री परमहंस आश्रम विनैगा
पोस्ट कत्थामिल, ए.बी. रोड,
शिवपुरी (म.प्र.)–473551 भारत
Mob. : 09425137462

© सर्वाधिकार सुरक्षित - (लेखक के अधीन)

संस्करण – सन् 2001 से नवम्बर 2009 तक – 5000 प्रतियाँ
दिसम्बर सन् 2009 – 3000 प्रतियाँ

मूल्य : रू. १२०/-

मुद्रक–
यथार्थ ग्राफिक्स
लक्ष्मी बाई रोड, रामघाट रोड, अलीगढ़–202001

ऊँ श्री सद्गुरूदेव भगवान की जय।

जय सद्गुरूदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी।।

सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।
अमरापुर वासी, सब सुखराशि, सदा एकरस निर्विकारी।।

अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।
योगी अद्वैष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी।।

चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।
श्री परमहंस स्वामी, अर्न्तयामी, हैं बड़नामी संसारी।।

हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी।।

यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।
ऊँ जय सद्गुरू.....भारी।।

वन्दना

ऊँ जय सद्गुरू देवम्, प्रभु जय सद्गुरू देवम्।
भव भय त्रास विनाशक, सद्गुरू तव चरणम्,
गीता ज्ञान प्रकाशक, हे.....शान्ती दूतम्।
शिव, अज, विष्णु नमत नित, सहित सहस बदनम्।
सुर, नर, मुनि के सर्वस, वन्दित तव चरणम्।।
हे परमहंस देवम्, ऊँ जय सद्गुरू देवम्।

योग निष्ठ, जगकर्ता, दुख हर्ता मेरे, गुरू.....
ब्रह्म निष्ठ, जन भर्ता, द्वार खड़ा तेरे,

ब्रह्म निरूपण नित्यं, हर युग कथ सत्यम्,
जन मन दोष निवारक सद्गुरू तव चरणम्।।

निर्मल मन तव आसन, जनहित बपु धारी,
चरितं परमानन्दं, भक्तन सुखकारी।।

सिंह चलनि वहु सोहत, मुख दुति अति प्यारी,
सबको प्रेम लुटावत, योगी, संसारी।।

भेद विनाशक देवं, चरितं अति ललितम्।
योग रहस्य सिखावत योगी अवधूतम्।।

भक्तन हृदय विराजत, ओंकार, रूपम्,
योग शास्त्रा निधि ज्ञाता, अविगत गोतीतम्।।

जन, मन की सब जानत, सकल मुनी भूपम्।
सब विधि दास अनाथम्, गावत तव चरितं।।

हे जन मन भ्रम हर्ता, पालन संहर्ता,
हम सब शरण तिहारी, तीन लोक कर्ता।।
कर मम शिरं परितोषम्, भुवनं कृपा धीशं,
दासन दास मनावत, परमहंसमीशम्, बज्रानन्दमीशम्।।
हे परमहंस देवम्, ऊँ जय सद्गुरू देवम्, भव भय त्रास.....

प्राक्कथन

सभी धर्मशास्त्र किसी न किसी महापुरूष द्वारा ईश्वर प्राप्ति के बाद संकलित स्वानुभूति है, जिसे बौद्धिक स्तर से समझना सर्वथा असम्भव है। धर्मशास्त्रों को बौद्धिक स्तर से समझने के कारण ही अनेकों मत मतान्तरों का प्रादुर्भाव हुआ है। यह सभी मत मतान्तर मनुष्य को एक सीमित दायरे में बाँधते हैं तथा भ्रम पैदा करते हैं। जबकि महापुरूषों का उद्देश्य **''वसुधैव कुटुम्बकम्''**, **''कृणवन्तो विश्वमाऽर्यम्''** था।

धर्मशास्त्रों को पढ़ने से तथा देखने से उनके रचयिताओं के प्रति जन सम्मान को देखकर, सम्मान की भावना से विद्वानों द्वारा अनेकों प्रकार के शास्त्रों की रचना होने लगी। जबकि ईश्वर को प्राप्त महापुरूषों ने ईश्वर के आदेश से ही धर्मशास्त्रों को लिखा है।

वर्तमान में हजारों नये शास्त्रों का निर्माण हो गया है और होता ही जा रहा है। महापुरूषों ने धर्मशास्त्रों में एक ईश्वर की उपासना को महत्व दिया है क्योंकि ईश्वर के अतिरिक्त सब दुःख का कारण है। इसलिए नये शास्त्रों की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है। आवश्यकता है तो धर्मशास्त्रों के प्रति व्याप्त भ्रामक धारणाओं को दूर करने की, शास्त्र तो पहले से ही इतने हैं कि क्रमशः कोई पढ़ना शुरू करें तो यह जीवन छोटा पड़ जायेगा। जीवन समाप्त हो जायेगा लेकिन शास्त्र नहीं। भारतीय ऋषियों की दूरदर्शिता के कारण उत्तर मीमांसा वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त (ब्रह्मसूत्र) योगदर्शन आदि धर्मशास्त्रों को सूत्रबद्ध किया गया। महापुरूषों ने देखा कि अन्य धर्म शास्त्रों में ईश्वर चर्चा के साथ समय की सामाजिक व्यवस्था का भी समावेश है। जिससे कालान्तर में भ्रम पैदा हो सकता है। जिसमें मनुष्यों का अहित निश्चित है। ऐसा विचार कर कुछ धर्मशास्त्रों को सूत्रबद्ध किया। जिनमें सामाजिक व्यवस्था का लेशमात्र भी समावेश नहीं है क्योंकि सामाजिक व्यवस्थाएं तत्सामायिक होती हैं। अधिक नहीं सौ वर्ष पुरानी व्यवस्था एवं परम्परा को आज का समाज नहीं स्वीकार करेगा।

परम्पराओं में उलझना कल्याण से वंचित होना है।

सभी धर्मशास्त्र ईश्वर प्राप्ति की बात करते हैं, लेकिन सामाजिक व्यवस्था का समावेश होने से तथा कई विद्वानों द्वारा उनका भिन्न-भिन्न अर्थ करने से भ्रम भी पैदा होता है। भ्रम अनेक प्रकार की विकृतियों को जन्म देता है। इसी भ्रम के कारण अनेक मत मतान्तरों एवं सम्प्रदायों (निर्वाणी, उदासी, शैव, शाक्त, वैष्णव, सन्यास) आदि अनेक पंथों का प्रादुर्भाव हुआ। एक ही महापुरूष मोहम्मद साहब के अनुयायी सिया-सुन्नी में बट गये, भगवान बुद्ध के अनुयायी हीनयान एवं महायान में बट गये, भगवान महावीर के अनुयायी श्वेताम्बर एवं दिगम्बर में बट गये, ईसा के अनुयायी प्रोस्टेट एवं कैथोलिक में बट गये, गुरू नानक के अनुयायी निर्वाणी एवं उदासी में बट गये। जबकि सत्य एक है, उसकी प्राप्ति का मार्ग एक है, रास्ते में मिलने वाली सुविधा एवं उपलब्धि भी एक है। फिर ऐसा मतभेद क्यों? जबकि सभी महापुरूषों ने एक ही बात कही है।

सभी महापुरूषों ने एक ही सत्य की अनुभूति प्राप्त की उसी में सम्पूर्ण मानव का हित निश्चित किया। उस सत्य (परमात्मा) को महापुरूषों ने ध्यान की अवस्था में देखा तत्पश्चात् उस अनुभूति को आंशिक रूप से शास्त्रों में संग्रहित किया। ध्यान की अवस्था में ही शास्त्र में निहित सत्य को समझा जा सकता है।

''ध्यानावस्थो तद्गतेन मनसा पश्यन्तोयंम योगिनः''

''जित पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुक पावही''

संसार का प्रत्येक व्यक्ति बाहर खड़ा है। वह सब कुछ बाहर देखता है, बाहर खोजता है। जबकि ऋषियों ने अनुशासनात्मक योगपथ को क्रियान्वित करके सब कुछ मन के अन्तराल में प्रत्यक्ष देखा है। इस अवस्था को प्राप्त किये बिना शास्त्रों में निहित सत्य को मायिक बुद्धि के द्वारा कभी नहीं जाना जा सकता है। केवल भौतिक शिक्षा (व्याकरण) के बल पर धर्मशास्त्रों में संग्रहित महापुरूषों के अनुभवी गूढ़ शब्दों को नहीं समझा जा सकता है। शब्दों के अर्थ को व्यक्त करने के कारण उसे व्याकरण कहते हैं। वयक्तीकरण करने से व्याकरण कहने लगे।

एक ही शास्त्र का कई विद्वानों द्वारा अलग-अलग अर्थ करना क्या

सिद्ध करता है? कोई भी विद्वान एक दूसरे के अनुवाद से सहमत क्यों नहीं है? क्या एक ही सत्य को अनेकों प्रकार से तोड़-मरोड़कर पेश करके धर्मशास्त्र के मुख्य उद्देश्य को विकृत करने का प्रयास नहीं है? प्रत्येक महापुरूष के बाद उन्हीं के नाम पर अनेकों प्रकार के सिद्धांत, शास्त्र की विकृतता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। मायिक बुद्धि सत्य से संबंधित निर्णय लेने में सर्वथा असमर्थ होती है, सर्वोपरि विद्वान भी बुद्धि से निर्णय लेकर सुख की कामना से भोगों के मार्ग में पूर्ण निष्ठा से अग्रसर दिखाई देते हैं। उस क्षेत्र में असफल होने से अत्यधिक दुख के कारण दिल का दौरा भी पड़ जाता है। यदि बुद्धि में सही निर्णय लेने की क्षमता होती तो दुख के मार्ग पर चलकर सुख की कामना नहीं करते। रोने का सामान जुटाकर प्रसन्न रहने की कामना, विद्वता की पहचान कैसे बन सकती है? मनुष्य के पास कुछ भी टिकाऊ नहीं है। रात-दिन व्यस्त रहकर जो अर्जित किया है, उसका नष्ट होना निश्चित है, नष्ट होने में दुख निश्चित है। जबकि कोई भी विद्वान कर्म करते समय दुख के परिणाम की अपेक्षा नहीं करता है। इसी मायिक बुद्धि द्वारा जिसमें सही निर्णय लेने की क्षमता नहीं है। महापुरूषों के धर्मशास्त्रों का अर्थ करता है। अर्थ वह है जो दुख एवं जन्म-मरण के बन्धन से छुड़ा दे। यदि दुख एवं अधम योनियों का कारण बने तो इससे बड़ा अनर्थ और क्या होगा?

आप लोगों ने कबीर, रहीम, मीरा, रैदास, सूरदास, दादूदयाल, गुरूनानक देव, भीखा साहब, सहजोबाई तथा अन्यान्य महापुरूषों के शब्दों को गद्यांश एवं पद्यांश के रूप में सुना होगा। इन उपदेशात्मक शब्दों को हजारों लोगों के मुखों से सुनने के बाद आपको हजारों प्रकार का अन्तर महसूस हुआ होगा। ऐसा बुद्धि की विषमता के कारण होता है यथावत् समझने की तथा ग्रहण करने की क्षमता सात्विक गुण की पूर्णता में होती है। एक ही सत्य को विभिन्न प्रकार के मानसिक स्तर से सुनने से उसका आशय विभिन्न प्रकार से समझ में आता है। उसे दूसरों से कहने पर सामने वाला भिन्न प्रकार से समझेगा। हजारों लोगों से हजारों प्रकार से सुनने से भ्रम स्वाभाविक है। एक व्यक्ति उसी पद को दूसरी तरह से गाता है तो दूसरा दूसरी तरह से जबकि महापुरूष ने एक ही बात कही है। इस प्रकार भिन्नता के कारण मतभेद स्वाभाविक है।

भिन्नता बढ़ते-बढ़ते मनुष्य को वास्तविकता से बहुत दूर कर देती है। सत्य के नाम पर समाज में आई हुई इस विकृति को सत्य की अनुभूति प्राप्त करने वाले

जानता है। अर्जुन यह तत्वज्ञता कई जन्मों के योगाभ्यास का परिणाम है, अन्तिम जन्म में सब कुछ वासुदेव ही हैं, इस अनुभूति के साथ स्वरूप में स्थित महात्मा अत्यन्त दुर्लभ हैं, ऐसे दुर्लभ महापुरूष द्वारा ही योग की यथार्थ जानकारी एवं जाग्रति मिलती है, केवल बौद्धिक स्तर से ''अहं ब्रह्मास्मि'' मान लेने से कोई दुखों से एवं दुख रूप योनियों से छुटकारा नहीं पा सकता है। बौद्धिक स्तर से केवल भ्रम का सृजन होता है, इसी कारण योग के नाम पर सत्पुरूषों की आड़ में शब्द जाल का विस्तार करके लोगों को भ्रमित करने का प्रयास होता रहता है, जबकि परम् कल्याण की दिशा देने वाले संसार के सभी महापुरूष एकमत हैं, ''योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा''

द्वै विधा निष्ठा पुरापोक्तामयानघः

ज्ञान योगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगीनाम्॥

योग एक है उस पर चलने के दो दृष्टिकोंण हैं अर्थात् दो प्रकार की निष्ठा है एक ज्ञान मार्ग दूसरा भक्ति मार्ग। क्रिया एक ही है, परिणाम एक है इतना स्पष्ट होने के बाद भी योग के नाम पर राजयोग, कर्मयोग, ध्यान योग, भक्ति योग, ज्ञान योग, जप योग, तप योग, कुण्डलिनी योग, हठ योग इत्यादि शब्द जुड़ते जा रहे हैं अभी पता नहीं कितने और शब्द जोड़े जायेंगे। इन प्रचलित योगों में कोई एक ही वास्तविक योग है।

योग प्रणेताओं में भगवान शिव, वैदिक ऋषि भगवान वेदव्यास, भगवान श्रीराम, भगवान श्रीकृष्ण, भगवान बुद्ध, महावीर, महर्षि पांतजलि, देवर्षि नारद् तथा बनवास काल में भगवान श्रीराम से मिलने वाले सैकड़ों ऋषियों ने कभी अनेक प्रकार के योगों की चर्चा नहीं किया ना ही भगवान श्रीराम ने प्रचलित योगों की कभी चर्चा की, जबकि उन सभी सत्पुरूषों ने भगवान को प्राप्त किया उसमें विलय पाया!

अपना कल्याण चाहने वाले जिज्ञासुओं को भी योग पथ के सफल प्रत्याशी को ही अपना आदर्श मानना चाहिये, योग पथ पर चलकर ईश्वर को प्राप्त करके उसी भाव को प्राप्त महापुरूष ही जिज्ञासुओं के सच्चे आदर्श एवं ईष्ट हैं।

अनेकों प्रकार की परम्पराओं एवं सिद्धान्तों को जन्म देने वालों को

गोस्वामी जी ने दंभी कहा है संत नही, **''दंभी निजमत कल्प कर प्रगट कीन्ह बहुपंथ''** योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अविवेकी कहा है।

जीव ईश्वर का विशुद्ध अंश है, जिस प्रकार मिश्री के पहाड में से एक टुकड़ा लेकर चखो मीठी लगेगी पूरे पहाड़ में मुह लगाकर देखो मिठास में कहीं भी अन्तर नहीं होगा, इसी प्रकार यह जीव जिस ईश्वर का अंश है उस ईश्वर के समस्त गुण धर्म धारण करता है, लेकिन मायिक चिन्तनों के अत्याधिक आवरण के कारण ईश्वरीय गुणों का आभास नहीं होता है, योग के द्वारा मायिक आवरण को पूर्ण रूप से हटाकर कोई भी अपनी आत्मा को, जो ईश्वर का अंश है, ईश्वरीय गुण धर्मों से युक्त देख सकता है। आवरण हटाने की प्रक्रिया को जप कहो, तप कहो, भजन कहो, योग कहो, भक्ति कहो कुछ भी नाम दे दो लेकिन क्रिया वही है।

''योगाश्चित्तवृति निरोधः'' ''काम संकल्प वर्जितः''

शब्दों के जाल में फँसाकर समाज को गुमराह करना आत्मा की हत्या करना है। आत्मा की हत्या करने वाले असुरों के लोक को प्राप्त होते हैं।

असूर्यानाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः।
तॉस्ते प्रत्याभि गच्छति ये के च आत्महनो जनाः।।

(ईशावास्योपनिषद)

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कभी इस योग को आज की तरह सामूहिक योग शिविरों का रूप नहीं दिया क्योंकि यह योग व्यक्तिगत श्रद्धा एवं लगन का विषय है और ''योग'' योगेश्वर श्रीकृष्ण की तरह किसी तत्वदर्शी महापुरूष के क्षेत्र की वस्तु है, जो स्वयं योगी हो दूसरे में योग जाग्रत करने की क्षमता रखता हो उसे योगेश्वर कहते हैं। ऐसे योगेश्वर द्वारा योग को प्राप्त करने का विधान अनादिकाल से रहा है और रहेगा।

जिस प्रकार दवा का नाम रटकर कोई रोगमुक्त नहीं हो सकता है। उसी प्रकार सूत्रों को रटकर कोई दुखों से पार नहीं हो सकता क्योंकि योग क्रियात्मक पथ है।

''योग'' तत्स्वयं योग संसिद्धं कालेनात्मनिविन्दति।

योगपथ पर चलने के दो दृष्टिकोंण हैं। एक भक्ति योग दूसरा ज्ञान अर्थात सांख्य योग। जैसी धारणा है कि भक्ति योग में कर्म करना पड़ता है लेकिन ज्ञान योग में कर्म नहीं करना पड़ता। केवल सूत्र कंठस्थ करने से ज्ञानयोग पूर्ण हो जाता है। जबकि योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा–

अनाश्रित कर्मफलः कार्यम कर्म करोतियः।

स सन्यासी च योगी च न निर्गग्निं च क्रियाः।

क्रिया को त्यागने वाला न सन्यासी है न योगी। यदि ऐसा होता तो सांख्य योग के प्रणेता भगवान कपिल अपनी माता देवहुति एवं पिता कर्दम को तपस्या (वृत्तियों का निरोध) करने जंगल न भेजते, उन्हें सूत्र रटाकर सांख्य योगी बना देते। सभी राजाओं को जिन्होंने महलों का त्याग करके योगाचरण द्वारा सम्पूर्ण दुखों से छूटकर स्वरूप की प्राप्ति की उन्हे सभी को सूत्र रटाकर सांख्य योगी बनाया जा सकता था।

कल्याण पथ में संसार के सभी महापुरूष एक मत हैं। सभी ने संसार को दुख एवं ईश्वर को सुख का हेतु माना है। ईश्वर योग क्रिया से प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए एकान्त देश का सेवन पूर्ण इन्द्रिय संयम के साथ योगाचरण। योग की पराकाष्ठा में ईश्वर की प्राप्ति। यही प्रत्येक महापुरूष ने किया है, यही सबका उद्देश्य एवं उपदेश है। योगदर्शन के माध्यम से संसार को यही संदेश देकर महर्षि पातंजलि ने योग की अनादिता तथा महापुरूषों द्वारा प्राप्त एक ही सत्य का समर्थन किया है। अन्य दर्शन शास्त्रों की तरह इसे सूत्र रूप में देने से सामाजिक व्यवस्थाओं के समावेश की इसमें गुंजाइश नहीं है।

प्रत्येक धर्मशास्त्र ईश्वर प्राप्ति के पश्चात् संकलित अनुभव है। महर्षि पातंजलि ने योगदर्शन को सूत्र बद्ध किया जिसमें योग क्रिया से लेकर योग से प्राप्त विभूतियों का चित्रण तत्पश्चात् कैवल्य की प्राप्ति तक का क्रमशः उल्लेख किया है।

सूत्र कहते है फार्मूला को जैसे गणित का एक सूत्र उस अध्याय के सभी प्रश्नों को हल कर देता है। उसी प्रकार योग के वृहत स्वरूप को महर्षि ने छोटे-छोटे सूत्रों के रूप में देकर जीवन की सम्पूर्ण और स्थाई समस्याओं का

समाधान तथा मानव मन के अन्तराल में योग से प्राप्त होने वाली आलौकिक क्षमता का उल्लेख किया है। योग सम्पूर्ण ऋषियों की क्रियात्मक अनुभूति है। इसमें कल्पना का कोई स्थान नहीं है। इसी योग साधन को समझने के लिए शौनक ऋषि जिनके गुरूकुल में अट्ठासी हजार शिष्य पढ़ते थे। जिन्हें वेद, वेदांग, व्याकरण सहित समस्त शास्त्रों का अध्ययन कराया जाता था वहां शिक्षक के रूप में सैकड़ों विद्धान नियुक्त थे। स्वयं शौनक ऋषि सभी शास्त्रों एवं विद्याओं के पारंगत विद्वान थे। इसके बाद भी उनके जीवन में एक कमी खटक रही थी। जिसे पूर्ण करने के लिए उस समय के सद्गुरू अंगिरा ऋषि के पास गये। शौनक ऋषि की जिज्ञासा का समाधान करते हुए उन्होंने बताया कि व्याकरण, ज्योतिष, निरूक्त छन्द, वेदादि सब अपरा विद्या है। जिससे परम ब्रह्म जानने में आता है वह परा विद्या है। जिसे योग क्रिया कहते हैं।

एक बार सैकड़ों विद्वानों की उपस्थिति में महान योगी याज्ञवल्क्य ने राजा जनक जो वेदों के उपनिषदों के तथा अन्यान्य शास्त्रों के पूर्ण ज्ञाता थे से पूछा कि आप विद्वानों से सम्मानित है क्या आप बता सकते हैं कि आत्मा का क्या स्वरूप है? राजा जनक के मना करने पर महर्षि याज्ञवल्क्य ने आत्मा के वास्तविक स्वरूप का तथा उसकी प्राप्ति का विधिवत निरूपण किया जिसे ब्रह्म विद्या या परा विद्या कहते हैं। इस योगपथ पर पूर्ण सफल वही होता है। जिसका मन महर्षि उद्धालक शिष्य नचिकेता की तरह लौकिक एवं पारलौकिक भोगों से सर्वथा उपराम हो गया है।

महान योगी यमराज ने नचिकेता के समक्ष स्वर्गलोक तक के श्रेष्ठतम भोगों का प्रस्ताव रखा लेकिन योगपथ के प्रबल पिपासु नचिकेता ने मात्र श्रेय की प्राप्ति के संबंध में जानकारी प्राप्त करके महात्मा यमराज को प्रसन्न कर दिया बाद में यमराज ने कहा कि जो प्रेय मार्ग में चलकर अपने आपको विद्वान मानते हैं। वह मूर्ख बार-बार मेरे अर्थात् यमराज के आधीन होते हैं अर्थात् बार-बार असह जन्म मरण रूप दुख को प्राप्त होते हैं। लौकिक एवं पारलौकिक भोगों से पूर्ण वैराग्य को प्राप्त साधक ही योगपथ का सफल प्रत्याशी बन सकता है।

सृष्टि में कहीं भी दो हाथ पैर वाला मनुष्य नाम का प्राणी है। चाहे वह अपने आपको कुछ भी कहता हो महलों से लेकर झोपड़ी तक सबको योगपथ पर चलने का अधिकार है। मिट्टी के दीपक तथा स्वर्ण दीपक में बराबर प्रकाश होता है। योग सबके लिए अनिवार्य है क्योंकि योग क्रिया से प्राप्त आत्मिक सम्पत्ति अनुकूल जीवन प्रदान करती है। भौतिक क्षेत्र में चपरासी से लेकर राष्ट्रपति तक विवशता का जीवन व्यतीत करते हैं। सम्पूर्ण विवशता से योग क्रिया मुक्ति दिला देती है। योग की निर्धारित विधि ''जिसका क्रमबद्ध वर्णन गीता एवं योगदर्शन में है'' जिसका आचरण करके संसार का कोई भी व्यक्ति सम्पूर्ण समस्याओं से मुक्त होकर अनुकूल जीवन की प्राप्ति कर सकता है। इसके अतिरिक्त दुखों से छूटने का तथा अनुकूल जीवन की प्राप्ति का संसार में अन्य कोई मार्ग नहीं है। इसके अतिरिक्त जो विविध उपायों एवं अनुष्ठानों के माध्यम से सुख शान्ति एवं वैभव प्राप्ति का तथा ईश्वर प्राप्ति का संदेश देते हैं तथा प्रयास करते हैं उनके लिए महापुरूषों ने कहा कि–

राम भगति बिनु सुनु खगराई।
सुख चाहहि जो आन उपाई।।
ते सठ कामधेनु ग्रह त्यागी।
खोजत फिरहि आक पय लागी।।
ते सठ महासिन्धु बिन तरनी।
पैर पार चाहहि जड़ करनी।।

वह सब जड़ करनी वाले हैं। यदि घर के दरवाजे से प्रवेश न करके कोई दीवार फांदकर घर में प्रवेश करता है तो वह चोर कहा जायेगा।

योग के नाम पर अनेकों प्रकार की क्रियायें मानव जाति के बीच प्रचलित हैं। इन प्रचलित क्रियाओं में जो जितना दक्ष है उतना ही बड़ा योगी माना जाता है, लेकिन योग एक निर्धारित क्रिया है जो सम्पूर्ण दुखों से मुक्त कराकर शाश्वत् धाम एवं शाश्वत् सुख प्रदान करती है। योग क्रिया मनुष्य को प्रत्येक संकीर्णता से ऊपर उठाकर परम कल्याण करती है। संसार के प्रत्येक मनुष्य के लिए यह अनिवार्य है क्योंकि योग से प्राप्त आत्मिक सम्पत्ति भौतिक

समृद्धि के साथ-साथ परमात्मा के दर्शन का मुख्य हेतु है। जहां सम्पूर्ण दुखों का पूर्णतया अभाव है।

सुर दुर्लभ सुख करि जग माही।
अंतकाल रघुपति पुर जाही।।

जैसे राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दौड़ प्रतियोगिता में शारीरिक उर्जा प्रतियोगी को सबसे आगे रखती है। उसी प्रकार आत्मिक उर्जा जिन्दगी की दौड़ में मनुष्य को सबसे आगे रखती है। आत्मिक उर्जा मनुष्य को योग क्रिया से प्राप्त होती हैं।

''योग'' प्रकृति के संयोग वियोग से ऊपर उठकर आत्मा एवं परमात्मा के मिलन का नाम योग (जोड़) है। जिन कारणों से परमात्मा से दूरी पैदा हुई है। उन कारणों को दूर करने की प्रक्रिया को ''योग क्रिया'' कहते हैं। महर्षि पातंजलि ने उन कारणों को अविद्या जनित अनेक वृत्तियों को माना है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने प्रकृति से उत्पन्न कामनाएं एवं संकल्प को कारण बताया है। सभी महापुरूषों ने अविद्या को ही परमात्मा से दूर होने का कारण माना है। सबका आशय एक है। वृत्तियों के पूर्ण निरोध काल में हृदय पूर्ण निर्मल होता है। ऐसे निर्मल हृदय के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार एवं विलय सम्भव है। योग का आरंभ इन्द्रियों के पूर्ण अनुशासित होने से है। कोई विरला साधक स्वरूपस्थ सद्गुरू की कृपा से योग की पराकाष्ठा में ईश्वर भाव को प्राप्त होता है। बिना सद्गुरू के योग में प्रवेश सर्वथा असम्भव है। महर्षि पातंजलि ने बताया कि योग क्रिया पराकाष्ठा में जो योगी क्लेश, कर्म एवं कर्म संस्कार से उपराम होकर ईश्वर भाव में स्थित हो गया है। ऐसा स्वरूपस्थ महापुरूष गुरूओं का भी गुरू है। ऐसे महापुरूष के प्रति समर्पित होकर साधक समाधि काल में कैवल्य को प्राप्त होता है। योगपथ में निश्चयात्मक क्रिया एक है। ''तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान क्रिया योगः'' तो ईश्वर कौन जिसे क्रिया योग को समर्पित करें इस पर कहते हैं ''क्लेश कर्म विपाकाशय अपरामृष्ट पुरूष विशेषः ईश्वरः''।

जो योगी योग की पराकाष्ठा में कर्म संस्कारों से तथा अविद्यादि क्लेशों से उपराम होता है। ऐसी विशेष स्थिति को प्राप्त योगी ही ईश्वर है। ऐसे ईश्वर

स्वरूप सद्गुरू के प्रति समर्पित होकर योग क्रिया का आचरण करने वाला साधक समाधि पर्यन्त दूरी तय करके कैवल्याभिमुख होता है।

महर्षि पातंजलिकृत योगदर्शन में एक सौ पन्चानवे सूत्र हैं जिसमें क्रमशः समाधिपाद में इक्यावन, साधनपाद में पचपन, विभूतिपाद में पचपन तथा कैवल्य पाद में चौंतीस सूत्र हैं।

योगदर्शन में योग के नाम पर, तप के नाम पर, ध्यान एवं समाधि के नाम पर ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, शौच, अपरिग्रह, सत्य, संतोष तथा रिद्धि सिद्धि आदि के प्रति जो भ्रामक धारणा है उसका स्पष्ट निराकरण है। इसका भली प्रकार मनन करके कोई भी व्यक्ति अपने जीवन की सम्पूर्ण समस्याओं का स्थाई समाधान प्राप्त करते हुए जीवन एवं समय का सदुपयोग कर सकता है।

जो सद्गुरू शिष्य को उसका वास्तविक धाम (स्वरूप) देते हैं। ऐसे महान गुरू के इस उपकार का बदला कोई शिष्य कैसे चुका सकता है। जो दलदल में फंसे एवं अनन्त योनियों के प्रवाह में बहते हुए जीवों को एक सर्वोच्च स्थाई पद का वारिस बना देते हैं। जहां संसार की किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं होती, जहां अनन्त दुख रूप योनियों का भय सर्वथा मिट जाता है। ऐसे महान गुरू की कृतज्ञता ज्ञापन के लिए शिष्य के पास कोई शब्द नहीं होते हैं।

परम् योगेश्वर गुरूदेव भगवान की पावन एवं स्नेहिल कृपा दृष्टि के परिणामस्वरूप यह योग दर्शन भाष्य आप सबके समक्ष है। परमाराध्य की शरण में उनकी कृपा से योग के गूढ़ रहस्यों को समझने का एवं जानने का सुअवसर मिला। लेखन में ईश्वरीय निर्देश ही निमित्त बना, यह भाष्य गुरूदेव भगवान की असीम कृपा का एक प्रसाद है। यह प्रसाद सबको मिल सके। इसी प्रयास एवं उद्देश्य के साथ यह योग दर्शन भाष्य जिनकी कृपा का फल है उन्हीं गुरूदेव के पावन चरणों में समर्पित करते हुए।

सद्गुरू चरणाश्रित बज्रानन्द

श्री परमात्मने नमः

समाधि पाद

अथ योगानुशासनम्।१।

योग का आरंभ अनुशासन के साथ है। अथ का तात्पर्य है प्रारंभ जैसे अथः प्रथमोध्याय जब किसी पुस्तक का अध्याय प्रारंभ होता है तो उससे पहले अथः लगाते हैं और अध्याय के अन्त में इति लगाते हैं। अथः शब्द प्रारंभ का द्योतक है और इति शब्द अन्त का। महर्षि पातंजलि कहते हैं कि योग का प्रारंभ अनुशासन से है। एकांत स्थान पर निवास करने वाला साधक किस पर अनुशासन करेगा? वह साधक अपने मन, इन्द्रियों एवं विचारों को अनुशासित रखते हुए योग में प्रवेश करता है क्योंकि जब तक मन, इन्द्रिय और विचारों का संयम नहीं होगा तब तक मन का निरोध सम्भव नहीं है। वृत्तियों के द्वारा ही ईश्वर और जीव में दूरी पैदा हुई है, इस दूरी को मिटाने का प्रयास योग है। वृत्तियों के रूप में आत्मा के ऊपर पड़े हुये आवरण को हटाना योग क्रिया है।

मन सहित इन्द्रियों का अनुशासन करके साधक को क्या करना है? इस पर कहते हैं-

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।२।

''चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है।'' महर्षि पातंजलि कहते हैं कि अनुशासित मन अर्थात् बाह्य संकल्पों, विकल्पों को न करने वाला साधक अपनी वृत्तियों को पूर्ण रूप से निरोध करने में सफलता प्राप्त करता है। वृत्तियाँ अनन्त हैं काम की, क्रोध की, लोभ की, मोह की, राग की, द्वेष की, श्रेष्ठ की, अश्रेष्ठ की, मान की, अपमान की, मित्र की, शत्रु की, अपनैं-पराये आदि की अनन्त वृत्तियां हैं। इन सम्पूर्ण वृत्तियों के निरोध का नाम ही योग है। निरोध के परिणाम में साधक को क्या प्राप्त होता है? इस पर कहते हैं-

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।।३।।

सम्पूर्ण वृत्तियों के निरोध के परिणाम स्वरूप दृष्टा(आत्मा) अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

किसी पात्र में जल भरा है। जब तक उसमें लहरें हैं तब तक उसमें कोई भी अपना प्रतिबिंब नहीं देख सकता। लहरों के सर्वथा शान्त होते ही प्रतिबिंब स्पष्ट दिखाई देने लगता है। मनुष्य के अन्तःकरण में वृत्तियों के रूप में जो अनन्त लहरें पैदा होती रहती हैं, उनके रहते कोई भी ईश्वर का दर्शन प्राप्त नहीं कर सकता। उनके सर्वथा शान्त होते ही योगी अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

जिसने अपनी वृत्तियों का निरोध नहीं किया उसका स्वरूप कैसा है? इस पर कहते हैं-

वृत्तिसारूप्यमितरत्र॥४॥

"जैसी वृत्ति वैसा ही पुरूष (दृष्टा) का रूप" जैसे किसी के अन्दर काम का बाहुल्य है तो उसे कामी कहते हैं, क्रोध का बाहुल्य है तो उसे क्रोधी कहते हैं, लोभ का बाहुल्य है तो उसे लोभी कहते हैं। मनुष्य का नाम वही रहता है, रूप वही रहता है। जब वह विद्यार्थी की वृत्ति में रहता है तो विद्यार्थी कहते हैं, पढ़कर इंजीनियर बन जाता है तो इंजीनियर कहते हैं। जिस वृत्ति के साथ दृष्टा रहता है। वैसा ही उसका रूप होता है। सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध होते ही दृष्टा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

सूत्रकार वृत्तियों के निरोध से योग का शुभारंभ करते हैं तथा इन वृत्तियों को मुख्यतः पांच भागों में विभक्त करते हुए साधकों को समझने की सुगमता प्रदान करते हैं यथा-

वृत्तयः पंचतय्य क्लिष्टाक्लिष्टाः॥५॥

क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट भेद से वृत्तियां मुख्यतः पांच प्रकार की होती हैं।

जिन वृत्तियों का निरोध करना है, उन्हें कैसे पहचानें इसलिए वृत्तियों को पांच भागों में बांटकर दृष्टिकोण के माध्यम से योग में सहायक तथा विघ्न कारक बताते हैं। इसी संसार को पढ़कर एक महल को छोड़ता है तथा दूसरा महल बनवाता है। एक के लिये संसार मुक्ति का हेतु बना, एक के लिए दुःख का, अधोगति का हेतु बना। अब अगले सूत्र में इन पाँच वृत्तियों को स्पष्ट

करते हुए कहते हैं कि-

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः॥६॥

१. प्रमाण २. विपर्यय ३. विकल्प ४. निद्रा एवं ५. स्मृति

अब इन पांचों वृत्तियों का निरूपण करते हुए कहते हैं कि वृत्ति कब एवं कैसे क्लिष्ट होती है, कब अक्लिष्ट। इन्ही माध्यम से ही प्रत्यय अनुमान एवं आगम प्रमाण से वृत्ति गति पकड़ती है, इस पर कहते हैं कि

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि॥७॥

प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम यह तीन प्रमाण हैं। इन्हीं को अपनी-अपनी दृष्टिकोण से पढ़कर जीव की अधोगति एवं परमगति का निर्माण होता है।

संसार का परिणाम प्रत्यक्ष है तथा योग का परिणाम अप्रत्यक्ष है। संसार में मनुष्य रात-दिन दुःख उठाकर, अपमान सहकर, जेलों में यातनायें सहकर, जो प्राप्त करता है। वह एक दिन नष्ट होकर उसके दुःख का कारण बनता है। महलों में भी सुख नहीं है। इसलिये महलों के भोग एवं खजानों को छोड़कर चक्रवर्ती नरेश योगपथ के पथिक बने। ऐसा दृष्टिकोण अक्लिष्ट कहलाता हैः।

पूज्य परमहंस महाराज जी के गुरूदेव पूज्य सत्संगी महाराज को एक बार विचरण करते समय ट्रेन में टिकट निरिक्षक ने पकड़ लिया उपेक्षावश अशिष्टता से कहा, घर में कमाके रख आये, जिन्दगी भर मौज लिया, बुढ़ापे में साधु बनकर निकल पड़े लोगों को ठगने के लिए। ऐसा कहकर कमरे से बाहर निकलकर एक कर्मचारी से कहा कि नाई को बुलाकर इस बाबा के बाल बनवाकर जेल में पहुँचा दो ताकि यह फिर किसी को न ठग सके, थोड़ी देर में नाई को लेकर कर्मचारी आ गया। कर्मचारी सहित नाई एवं टिकट निरिक्षक जब कमरे में गये तो वहाँ घोट-मोट एक बाबा को देखकर कहा कि यहाँ एक बाबा बैठे थे किधर गये। पूज्य सत्संगी महाराज बोले वह महात्मा हम हैं, उन्होने पूछा आपके बाल क्या हो गये, पूज्यश्री ने कहा बाल सब बालकाण्ड में चले गये। तुरन्त रामायण मँगाकर देखी गयी बाल वहीं मिले। नई रामायण मंगाकर देखा बालकाण्ड में बाल मिले, ऐसा चमत्कार देखकर टिकट निरिक्षक

भूल के लिए क्षमा माँगने लगे। इस घटना के बाद वह ईश्वर के तथा संतो के परमभक्त बनकर भगवान के चिन्तन में नियमित समय देने लगे। प्रत्यक्ष प्रमाण देखकर भक्त के अन्दर अक्लिष्ट वृत्ति पैदा होकर ईश्वर (परम कल्याण) में लगा दिया। इसी प्रकार वैराग्यवान साधक को देखकर मनुष्यों की वृत्ति गति पकड़ती है, विपरीत विचार से क्लिष्ट वृत्ति का निर्माण होता है। साधक प्रत्यक्ष रूप में महापुरूष को भी देखता है। जिनके संरक्षण में योग साधना कर रहा है।

महापुरूष के रहन-सहन को देखकर बहुत से साधक भजन छोड़कर उनके वेशभूषा एवं रहन-सहन की नकल करके योग भ्रष्ट हो जाते हैं। यह वृत्ति क्लिष्ट कहलाती है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि योगी के कर्म अशुक्ल एवं अकृष्ण होते हैं। उनके चित्त में इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता ना ही कोई परिणाम। जीवन मुक्त महापुरूष के लिए कुछ भी विधिनिषेध नहीं होता। फिर भी वह साधकों के हित में भजन में बर्तते हुये पीछे वालों को प्रेरित करते हैं।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन मेरे लिये तीनों लोकों में कोई भी कर्तव्य कर्म शेष नहीं। कोई भी अप्राप्त वस्तु प्राप्त करने योग्य नहीं है। जिसकी प्राप्ति के लिये मैं यत्न करूं फिर भी पीछे वालों के हित की इच्छा से मैं सावधान होकर कर्म में बर्तता हूँ।

अर्जुन श्रेष्ठ पुरूष जो कर जाता है। उसी को समाज प्रमाण मानता है। इसलिये लोक संग्रह को देखते हुये तू भी मेरे द्वारा किये हुए कर्म को कर, करते-करते तुम भी एक दिन मेरी तरह कर्मों से उपराम हो जाओगे।

प्राप्ति वाले महापुरूष को जब नया साधक देखता है तो वह भी नकल करने का प्रयास करता है क्योंकि महापुरूष को अनुराग, त्याग की आवश्यकता होती नहीं। जबकि साधना काल में वही महापुरूष पागलों की तरह रहते थे। योगपथ के सभी पथिक इसी क्रम से गुजरे हैं ।

बहुत से साधक महापुरूष का वर्तमान रहन-सहन जिसे वह प्रत्यक्ष देखता है। क्लिष्ट वृत्ति का आश्रय लेकर श्रेय साधन से भटक जाता है। महापुरूषों ने कैसे-कैसे भजन किया उनके रास्ते में माया कैसे विघ्न के रूप में उपस्थित हुई, कितने सूक्ष्म रूप में माया प्रवेश करती है। कैसे-कैसे माया को पार पाया। साधना काल में उपस्थित विघ्नों को कैसे पार किया। महापुरूष का

समग्र जीवन साधक के लिये एक प्रमाण होता है। साथ ही उनका दर्शन पीछे वालों के लिये प्रमाण होता है जिसे आगम शास्त्र कहते हैं।

साधक अनुमान के द्वारा भी अपनी वृत्तियों को अक्लिष्ट बना लेता है। भगवान श्रीराम ने पंचवटी से कुछ दूर आकाश मे उठती धूल देखकर एवं शोरगुल सुनकर असुरों के आगमन का अनुमान लगाकर लक्ष्मण को सावधान करके सीता को सुरक्षित गुफा में ले जाने का आदेश दिया, इसी प्रकार साधक अनीष्ट सूचक दृश्यों के माध्यम से अनुमान द्वारा अपनी वृत्तियों को समेट लेता है। साधना की शुरूआत में जब तक ईष्ट पूर्ण रूप से अनुकूल नहीं है। तब तक अनुभव में आने वाले दृश्यों को, शब्दों को अपनी बुद्धि द्वारा साधना परक बनाकर अक्लिष्ट बना लेता है। प्रत्येक संकल्प के साथ उत्तर मिलने पर यह वृत्ति भी छूट जाती है।

साधक का मन जब बर्हिमुख होने लगता है तो विचारवान साधक अनुमान के द्वारा अनिष्टों से बच जाता है। वह सोचता है मैं इधर जा रहा हूँ इसका यह परिणाम होगा। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए कहा कि अर्जुन जिनकी निगाहों में तुम श्रेष्ठ थे। वही शूरवीर तुम्हें युद्ध से उपराम हुआ जानकर बहुत से न कहने योग्य वचनों को कहेंगे। बहुत काल तक तेरी अपकीर्ति रहेगी, और अपकीर्ति संभावित पुरूष के लिये मरने से बढ़कर है, बद्तर है। इसलिये अर्जुन तुम युद्ध करो अर्थात् साधना में प्रवत्त रहो। अभी कुछ हुआ नहीं अर्जुन के साथ लेकिन भविष्य में क्या होगा इसका अनुमान करके योगी अपने कर्तव्य पर आरूढ़ रहता है। इसलिये यह भी अक्लिष्ट वृत्ति है।

धर्म विचार समुझ कुल रहई। सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहई।

यह तो प्रत्यक्ष रूप से बाह्य दृश्यों, क्रियाकलापों एवं परिणामों से संबंधित है। लेकिन जब साधक साधनावस्था में ईश्वरीय अनुभूतियों से गुजरने लगता है। वह सभी घटनायें घटने लगती हैं जिन्हें वह देखता है। ऐसा यह प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रमाण साधक के मन को स्थिर करने में तथा ईश्वर के प्रति आस्था को दृढ़ करने में सहायक होता है। इसी प्रकार जो शास्त्र में लिखा है ठीक वैसी ही अनुभूति से जब साधक गुजरने लगता है तो शास्त्र भी उस साधक के लिये सत्य प्रमाण बन जाते हैं। जिससे मन को स्थिर करने में

सहायता मिलती है तथा आस्था और भी बलवती होती जाती है। सा धना काल में सद्गुरू (ईश्वर) प्रदत्त अनुभूतियाँ साधक के अन्दर विवेक, वैराग्य, शम, दम इत्यादि ईश्वर से जोड़ने वाले सद्गुणों को दृढ़ करने वाले होते हैं। यदि अनुभव में मिलने वाले दृश्य या शब्द साधक को बहिर्मुख करते हैं तो वह वृत्ति क्लिष्ट कहलाती है।

सूत्रकार अब दूसरे वृत्ति के बारे में बताते हुये उसके क्लिष्ट भेद को स्पष्ट करते हैं।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानम् तद्रूप प्रतिष्ठिम्।।८।।

''जो स्वरूप के तद्रुप प्रतिष्ठित न करे वह मिथ्या ज्ञान ही विपर्यय हैं''

संसार की समग्र जानकारी को ही विद्वान लोग ज्ञान कहते हैं। लेकिन समस्त भूमण्डल की समस्त जानकारी किसी मनुष्य को दुःख से नहीं बचा सकती। जबकि योग का परिणाम शाश्वत सुख है।

जब से सृष्टि है आज तक की सम्पूर्ण घटनाओं को तथा समस्त ऐतिहासिक तथा गैर ऐतिहासिक पुरूषों के उत्थान पतन तथा उपलब्धियों की जानकारी प्राप्त करके बाल की खाल निकालकर प्रस्तुत करने की क्षमता वाला भी दुःख मुक्त नहीं हो सकता। जब तक उसकी सम्पूर्ण वृत्तियाँ ईश्वर में समाहित न हो जायें। जो ऋषियों का परम लक्ष्य है। यही उनके संदेश एवं शास्त्रों का उद्देश्य है।

इस संसारी ज्ञान को भगवान श्रीकृष्ण ने व्यर्थ का कहकर तथा इस ज्ञान को धारण करने वालों को असुर तथा राक्षस कहकर संबोधित किया है।

मोघाशा मोघकर्मणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।।

रामायण भी इसका समर्थन करती है।

योग कुयोग ज्ञान-अज्ञानू। जहँ नहि राम प्रेम परिधानू।।

यही सूत्रकार महर्षि पातंजलि का भी उद्देश्य है कि साधक संसार की समस्त जानकारी प्राप्त कर ले एवं सद्गुरू से परमात्मा प्राप्ति की समस्त जानकारी प्राप्त कर ले, लेकिन सद्गुरू प्रदत्त ज्ञान पर आचरण द्वारा जब तक वह प्रतिष्ठित नहीं होता तब तक वह ज्ञान मिथ्या ज्ञान है, वाचिक ज्ञान है। जो

योग में प्रतिष्ठित कर दें वह अक्लिष्ट वृत्ति है। इसके अतिरिक्त क्लिष्ट वृत्ति है। योग के अनुरूप आचरण करने वाली अक्लिष्ट वृत्ति कहलाती है। इसके विपरीत सभी क्लिष्ट वृत्ति है। अब तीसरी वृत्ति विकल्प के बारे में बता रहे हैं।

शब्द ज्ञानानुपाती वस्तु शून्यों विकल्पः॥९॥

'' वस्तुशून्य शब्द (अनुभव) का ज्ञान विकल्प है।'' जब साधक सद्गुरू प्रदत्त योग साधना में अग्रसर होता है तो कुछ कालोपरान्त उस परात्पर ब्रह्म से अनुभव प्राप्त होने लगता है। उस ब्रह्म को शब्द ब्रह्म भी कहते हैं। **''शब्दं ब्रह्मौ व्यजानात्॥''** साधक को साधना काल में ईश्वरीय निर्देशन मिलने लगता है। जो सीधे ब्रह्म से प्रसारित है। यह ब्रह्म नहीं उसका एक विकल्प है। इसलिये शास्त्रकार ने वस्तु शून्य कहा है, लेकिन साधक इसी अनुभवी सूत्रपात के द्वारा ब्रह्म तक पहुंच जाता है।

शब्द डोर धर उतरे पार।
शब्द-शब्द सब कोई कहे, वह तो शब्द विदेहु।
जिभ्या पर आवै नहीं, निरख परख कर लेहु॥
शब्दे मारा गिर पड़ा, शब्द छुडायो राज।
जिन-जन शब्द विवेकियाँ तिनको सरगो काज॥

विवेक के द्वारा ईश्वर प्रदत्त अनुभव (शब्द) को समझते हुए सा धक मूल वस्तु परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। ऐसे सा धक के लिए यह वृत्ति अक्लिष्ट है। लक्ष्य से विपरीत निर्णय लेने वाली वृत्ति क्लिष्ट है।

उमा राम गुण गूढ पंडित मुनि पावहि विरति।
पावहि मोह विमूढ जे हरि विमुख न धर्म रत॥

अब चौथी वृत्ति निद्रा पर विचार करेंगे।

अभाव प्रत्ययावलम्बना वृतिर्निद्रा॥१०॥

''अभाव वृत्ति का अवलम्बन करने वाली वृत्ति निद्रा कहलाती है।''

साधना काल में काम, क्रोध, लोभ, राग-द्वेष, मान-अपमान तथा गुण-दोष देखने वाली वृत्तियों के सर्वथा शान्त होते ही मन प्रसुप्त हो जाता है। ईश्वर चिन्तन की धारा में अविरल गति से प्रवाहमान रहता है। विवेक, वैराग्य तथा ईश्वर से मिलाने वाले गुणों से रहित मन इनके अभाव में मोहरूपी रात्रि

में अचेत हो जाता है, सो जाता है। विकारों एवं संकल्पों के अभाव का अनुभव करने वाली वृत्ति निद्रा है। यह अक्लिष्ट वृत्ति है। इसके विपरीत क्लिष्ट वृत्ति है। अब अंतिम वृत्ति को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि-

अनुभूत विषयासम्प्रमोषः स्मृति॥११॥

''अनुभव किये हुए विषय को प्रकट करने वाली वृत्ति स्मृति है।'' जो विस्मृत है, उसकी स्मृति हो जाना, भोगों की अधिकता या उनके प्रति अत्यधिक आकर्षण के कारण प्रत्येक मनुष्य को अपना वास्तविक स्वरूप विस्मृत रहता है। वह इन भोगों को ही सत्य मानता है और ऐसा मानते हुए मनुष्य अपने हजारों अनमोल जन्मो को व्यर्थ ही खो देता है। अर्जुन की तरह किसी योगेश्वर सद्गुरू का सानिध्य प्राप्त कर या अत्यधिक पूर्व कृत पुण्य के प्रभाव से स्वतः उसकी स्मृति वापस हो जाती है और अपने लक्ष्य की तरफ चल पड़ता है। यही योगेश्वर श्रीकृष्ण से अर्जुन ने कहा कि-

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ (गीता१८/६३)

अपने पूर्व पुण्य कृत साधन की तरफ अग्रसर साधक के समक्ष भोगे हुए भोगों का स्मृति पटल पर उभरने से उनके प्रति आकर्षित होने पर साधक श्रेय साधन से च्युत हो जाता है। यह क्लिष्ट वृत्ति है। भोग संबंधी एक भी संकल्प या संसार में जो अत्यधिक प्रिय था, लगाव था। उसकी स्मृति के साथ उससे संबंधित अनेकों शब्द तथा दृश्य मानस पटल पर स्मृति के रूप में उभर आते हैं। जिस कारण साधक का मार्ग अवरूद्ध हो जाता है। ऐसी वृत्ति क्लिष्ट कहलाती है। अपने स्वरूप की स्मृति तथा इससे संबंधित विचार अक्लिष्ट कहलाते हैं। ज्यों ज्यों साधक योगाभ्यास से अपने चित्त को सूक्ष्म करता जाता है, त्यों त्यों उसकी स्मृति में पूर्व की सा धना एवं संस्कार प्रकट होते जाते हैं। पूज्य परमहंस महाराज जी बताते थे कि अल्प साधना से ही पूर्व की साधना का अनुभव होने लगा था। भगवत् पथ में प्रत्येक साधक ने स्मृति पटल पर पूर्व साधना क्रम एवं कर्म संस्कारों को देखा।

अभी तक महर्षि पातंजलि ने वृत्तियों का निरोध तथा वृत्तियों का विभाग बताया है। इन वृत्तियों का निरोध कैसे करें अगले सूत्र में स्पष्ट कर रहे

हैं ताकि साधक श्रेय साधन से दूर होकर प्रकृति में न भटके इसके लिये वैराग्य तथा अभ्यास के द्वारा वृत्तियों के निरोध पर बल देते हैं।

अभ्यास वैराग्याम्यां तन्निरोधः।।१२।।

सतत् अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा वृत्तियों का निरोध होता है।

वादि विरत बिनु ब्रह्म विचारू, बादिवसन बिनु भूषण भारू।

यदि साधक के अन्दर वैराग्य नहीं है तो ब्रह्म के विषय में विचार करना ही व्यर्थ है। जैसे सम्पूर्ण आभूषणों से युक्त होने पर वस्त्र रहित सुन्दरी क्योंकि योग पथ पर वैराग्य ढाल है। जिसकी आड़ लेकर साधक माया जनित विचारों एवं दृश्यों के आक्रमण से सुरक्षित रहता है।

विरत चर्म असि ज्ञान मद् लोभ क्रोधिरिपु मार।
जय पाइय सोइ हरिभगति देखु खगेस विचार।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी गीता के छठवे अध्याय में वैराग्य पर बल दिया है।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।

वैराग्यवान साधक को सतत् क्या करना चाहिये? इस पर बल देते हुये सूत्रकार कहते हैं कि स्वरूप में स्थित होने के लिए जो सा
धक अनवरत् प्रयत्नशील हैं यही अभ्यास है। इसी प्रकार वैराग्य के साथ अभ्यास के द्वारा साधक अपने लक्ष्य की प्राप्ति करता है।

अभ्यास का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि-

तत्रःस्थितौ यत्नोऽभ्यासः।१३।।

यत्नपूर्वक मन को स्थिर करने का नाम अभ्यास है। मन बार-बार विषयों का चिन्तन करता है, उसे बार-बार यत्नपूर्वक नाम एवं रूप में स्थिर करना अभ्यास है।

प्रयत्न कब तक करना है। इस पर कहते हैं-

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः।।१४।।

श्रद्धा पूर्वक निरन्तर दीर्घ काल तक वैराग्य के साथ योगाभ्यास करना है, जब तक चित्त भली प्रकार योग में दृढ़ता पूर्वक स्थित न हो जाय।

जब योग के अभ्यास में योगी अग्रसर होता है। तब अनन्त वृत्तियाँ विघ्न के रूप में योगी के चित्त में विक्षेप पैदा करती हैं। ईश्वर से जुड़ने के बजाय मन वृत्तियों से जुड़ जाता है और प्रकृति में भटक जाता है। इसलिए योगकार कहते हैं कि अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही वृत्तियों का पूर्ण निरोध संभव है। जब तक भोगों के प्रति राग है। तब तक योगी वृत्तियों का निरोध नहीं कर सकता। आजकल भोगों को भोगते हुए परिवार की व्यवस्था देखते हुए योग प्राप्त करने का संदेश देने वाले बहुत हैं, लेकिन योगपथ के वास्तविक जानकारों ने भोगों में रहते हुए योग को प्राप्त करना दुर्लभ बताया है। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि अर्जुन जिसकी मन तथा इन्द्रियाँ बस में नहीं हैं। जो इन्द्रियों के भोगों के पीछे भाग रहा है। उसके लिये योग प्राप्त करना कठिन है। यही महर्षि पातंजलि कहते हैं बिना भोगों के वैराग्य से वृत्तियों का निरोध असंभव है। इसलिए उन्होंने कहा कि पहले भोगों से वैराग्य तथा निरंतर योगाभ्यास के द्वारा अर्थात् मन को बाह्य वृत्तियों से, यहां-वहां से बार-बार समेट कर लक्ष्य में लगाने का नाम अभ्यास है। निरन्तर वैराग्य और अभ्यास के द्वारा ही वृत्तियों का निरोध संभव है। इसी बिन्दु को लेकर अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से प्रश्न किया था कि भगवन! मैं मन को बस में करना वायु की तरह दुष्कर समझता हूँ। तब भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि अर्जुन निसंदेह मन को बस में करना कठिन है। लेकिन निरंतर अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इसे बस में किया जा सकता है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ अ. ९/२५॥

सतत् अभ्यास के द्वारा ही चित्त का निरोध संभव है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्॥ अ. १०/१०

ईश्वर को प्राप्त किसी महापुरूष ने कभी भी समाज में दरार नहीं डाली। जिसे महर्षि पातंजलि ने सतत् अभ्यास एवं वैराग्य के साथ वृत्तियों का निरोध करके स्वरूप की प्राप्ति का उपाय बताया। उसी को भगवान श्रीकृष्ण ने अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा कामनाओं एवं संकल्पों का पूर्ण निरोध करके स्वरूप की प्राप्ति का उपाय बताया।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंऽकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

जिसकी सम्पूर्ण कामनाएं व संकल्प शेष हो गये हैं। ऐसा योगी ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन के साथ स्वरूप को प्राप्त कर सम्पूर्ण कर्मों से छुटकारा पा जाता है। इस स्थिति वाले को बोध स्वरूप महापुरूषों ने पण्डित कहा है। ज्ञान ईश्वर दर्शन है। पुस्तकों को रटना ज्ञान नहीं है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

योग की पराकाष्ठा में ईश्वर के साक्षात्कार रूपी ज्ञान को प्राप्त होता है। भगवान श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अर्जुन ज्ञान के समान निःसंदेह कुछ भी पवित्र करने वाला नहीं है। जिसे स्वयं किसी से सुनकर नहीं योग की पराकाष्ठा में प्राप्त किया जा सकता है। योग पथ पर चलने का मानव मात्र को अधिकार देते हुए कहते हैं–

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

अर्जुन अत्यन्त पापी भी जो अनन्यभाव से मेरा भजन करता है। वह साधु ही मानने योग्य है क्योंकि वह दृढ़ निश्चय से लग गया है। अनन्य भाव से भजन करने का परिणाम बताते हुये अगले श्लोक में कहते हैं कि वह शीघ्र ही परम धर्म परमात्मा से संयुक्त अन्तःकरण वाला (धर्मात्मा) हो जाता है। जिसके परिणामस्वरूप वह तत्काल परम शान्ति को प्राप्त होता है।

अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक जान कि मेरे भक्त का कभी विनाश नहीं होता। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से योग के बारे में स्पष्ट करते हुए कहते हैं अर्जुन यह योग न उकताये हुए चित्त से करना ही कर्तव्य है। फल की आशा से रहित हो करके ऐसा मानकर के जो करता है, उसी का योग सिद्ध होता है। दुःखों का नाश करने वाला यह योग न अधिक खाने वाले का और न अधिक सोने वाले का और न अधिक जागने वाले का बल्कि उचित मात्रा में भोजन लेने वाले तथा उचित मात्रा में सोने, जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

पूज्य गुरू महाराजजी कहा करते हैं कि योगी को मात्र चार घण्टे सोना

चाहिये और सतत् योगाचरण में लगे रहना चाहिए। तभी योग सिद्ध होता है। अर्जुन! मेरे द्वारा संसार में दो प्रकार की निष्ठा योग के प्रति कही गई है एक ज्ञान योग दूसरा कर्म योग।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।

लेकिन बुद्धिजीवियों ने गीता के नाम पर, योगदर्शन के नाम पर अनेकों प्रकार की योग क्रियायें समाज में प्रचलित करके लोगों को भ्रमित कर दिया। जबकि योग क्रिया एक है उस पर चलने के दो दृष्टिकोण हैं। इसी योग क्रिया को सबसे पहले योगी बौद्धिक स्तर से महापुरूषों से समझकर इस पथ में अग्रसर होता है। जिसे ज्ञान योग कहते हैं। यही योग सद्गुरू के प्रति समर्पित भाव होकर कोई भी कामना न करते हुए केवल निर्देशन का पालन करते हुए अग्रसर होना निष्काम कर्म योग कहलाता है। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि अर्जुन-

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।

योग एक है उस पर चलने के दृष्टिकोण दो हैं। इसी को भगवान राम ने रामायण में कुछ इस प्रकार इंगित किया है।

ज्ञानहि भक्तिह नहि कछु भेदाः, उभय हरहि भव संभव खेदा।

ज्ञानहि भक्तिह अन्तर कैसे, जल हिम उपल विलग नहीं जैसे।।

योग की शुरूआत परमात्मा के प्रति पूर्ण श्रद्धा एवं निष्ठा तथा उस परमात्मा से जोड़ने वाले सद्गुरू के प्रति श्रद्धा और निष्ठा द्वारा होती है। यदि ऐसा नहीं है, तो वह योग नहीं कुयोग है, ज्ञान नहीं अज्ञान है।

योग कुयोग ज्ञान अज्ञानू। जँह नहीं राम प्रेम परिधानू।।

जप योग, तप योग, हठ योग, राज योग, लय योग, कुण्डलिनी योग, भक्ति योग, कर्मयोग, ज्ञान योग, योगासन इत्यादि जितने भी नाम है। यह सब मुख्य योग के अभिन्न अंग हैं। लेकिन इनके नाम पर भिन्न-भिन्न क्रियाओं को जन्म देकर योग का उपहास करना है।

एक बार मां पार्वती तपस्या कर रही थीं। भगवान शिव ने परिक्षार्थ

सप्त ऋषियों को भेजा उनको जबाव देते हुये पार्वती कहती हैं कि-

हठ न छूट छूटही वरदेहू, मन क्रम वचन मंत्र दृढ़ एहू।
जनम कोटि लगि रगड़ हमारी, बरहु शंभु नहि रहहु कुंआरी।
तजहु न नारद कर उपदेसू, आप कहहि सतवार महेसू।

योगपथ में अपने कर्तव्य पर आरूढ़ रहते हुये सफलता प्राप्त करना ही मुख्य उद्देश्य होता है तथा सफलता पाने के लिए हठ आवश्यक होता है। पार्वती ने कहा कि मैं अपने सद्गुरू नारद जी के उपदेश को नहीं त्याग सकती। स्वयं शंकर जी भी आकर कहे तब भी नहीं त्याग सकती। नारद ने कभी किसी को हठयोग या कुण्डलिनी योग का उपदेश नहीं दिया उन्होंने तो बस इतना ही कहा कि-

जो तप करें कुमारि तुम्हारी।
भावी मेटि सकहि त्रिपुरारी।।

जप की शुरूआत कहाँ से है कैसे हैं इस पर कहते हैं-

महामंत्र मणि विषय व्याल के। मैटत कठिन कुअंक भाल के।।

अर्थात् प्रभु नाम का जप करते हुए, भोगों का चिंतन न करते हुए अपने लक्ष्य (परमात्मा) में दृष्टि रखते हुए अनवरत प्रयास का नाम तप है।

अभी तक आपने योग के बारे में इतना तो समझ ही लिया होगा कि योग ईश्वर से जोडने वाली प्रक्रिया का नाम है। जब तक मन बाहर दौड़ रहा है, अनंत वृत्तियों से संयुक्त है। तब तक योग पथ पर चलना सर्वथा असंभव है।

यह मन बाहरी किसी क्रिया के द्वारा संयमित नहीं होता बल्कि और अधिक विकृत होता है। एक कुसंस्कार और पड़ जाता है। संसार में सब कुछ परिवर्तनशील है। अपरिवर्तनशील तो मात्र एक परमात्मा ही है। मन की एकाग्रता किसी बाहरी देश-वेश या वस्तु में संभव नहीं है। वस्तु के परिवर्तन के साथ मन का परिवर्तन स्वाभाविक है। ऐसी परिस्थिति में मन का स्थिर होकर सम होना सर्वथा असंभव है। सम एक रस तो मात्र एक परमात्मा है। परमात्मा में ही मन की एकाग्रता, समता, एकरसता संभव है। अन्तिम संकल्प के साथ मन का पूर्ण निरोध हो जाता है। इस निरूद्ध मन के परमात्मा में विलय के साथ

योग क्रिया भी शेष हो जाती है।

जब मन को बाह्य जगत से समेटकर हृदय देश में स्थिर करके अपनी प्रत्येक वृत्ति को ईश्वर में विलय करना है तो इस प्रक्रिया में बाहरी दृश्यों या क्रियाओं का क्या सहयोग हो सकता है। यह तो सब योग पथिक के लिये विघ्न ही है। आज जो योग के नाम पर प्रचलित क्रिया-कलाप हैं, महापुरूष के अभाव में ऐसी विकृतियाँ समाज में स्वाभाविक हैं। योग के नाम पर प्रचलित शब्द तो सब धर्म शास्त्रों से लिये गये हैं। लेकिन शास्त्र कोई विरला महापुरूष जानता है। उनके संरक्षण में कोई विरला अधिकारी ही समझता है। इसीलिये समाज में भ्रान्तियां पनपती रहती हैं।

योगपथ के कुछ महत्वपूर्ण शब्द जिनका योग में अपना विशेष स्थान है। लेकिन बुद्धिगम्य न होने के कारण उनका रूप गढ़ लिया गया है, जैसे गायत्री मंत्र सीधे ईश्वर से की गई प्रार्थना है। लेकिन गायत्री के नाम पर एक प्रतिमा की रचना हो गयी, तो इसमें शास्त्र का क्या दोष है? दोष है बुद्धि द्वारा शास्त्रों को समझने वालों का। जबकि शास्त्र अनुभवगम्य है बुद्धिगम्य नहीं। ईश्वर मन बुद्धि से परे है। महान ऋषियों ने योग पथ पर चलकर अनुभव में आने वाले शब्दों एवं दृश्यों का संकलन कर शास्त्र का रूप दिया है। ऋषियों की भांति संसार का कोई भी व्यक्ति योग साधना द्वारा आज भी अपने अनुभव में उसी सत्य को प्रत्यक्ष देख सकता है जिसे ऋषियों ने देखा है। बुद्धि तो केवल कल्पना कर सकती है। बुद्धि में सत्य का निर्णय लेने की क्षमता नहीं होती है। यदि बुद्धि में सत्य का निर्णय लेने की क्षमता होती तो सभी बुद्धिजीवी दुःख के रास्ते पर नहीं चलते और न समाज को चलाते। इससे अंत में मिलेगा क्या?

''जनम मरण जह लगि जग जालू, सम्पति विपति काम अरू कालू।।
स्वर्ग नर्क जंह लगि व्यवहारू। धरिन धाम धन पुरू परिवारू।।
देखेइ सुनिय गुनिय मन माही। मोह मूल परमारथ नाही।।

सब कुछ नश्वर ही तो है। परिश्रम से अर्जित उपलब्धि जब नष्ट होती है तब दुःख होता है। संसार के प्रति किये गये परिश्रम का परिणाम दुःख है। शाश्वत तो एक मात्र परमात्मा है। जिसकी प्राप्ति का क्रमिक संकेत योगदर्शन एवं गीता में प्रमुख रूप से है। आंशिक रूप से सभी धर्मशास्त्रों में इसका

उल्लेख है। योगपथ के पथिक के लिये तो गीता एवं योग दर्शन ही प्रमाण है। जिन्हें अनुभव की कसौटी में भली प्रकार समझा जा सकता है।

यद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता, अनुभव गम्य भजहि जेहि संता॥

योग से संबंधित कुछ प्रचलित शब्द इस प्रकार हैं जिनका योगपथ पर विशेष स्थान एवं महत्व है। मुख्य तो योग है। जिसके दो दृष्टिकोण हैं। एक तो सद्गुरू से प्राप्त योग की सर्वांगीण जानकारी को हानि-लाभ समझकर स्वेच्छा से उसके लिए समय देना जिसे ज्ञान योग कहते हैं। यही निष्काम भाव से सद्गुरू के प्रति समर्पित होकर करना भक्तियोग या बुद्धियोग कहलाता है। इस योग को करने में कोई भी पथिक भवानी पार्वती की तरह, भगवान बुद्ध की तरह हठ करके बैठ जाता है। योग में हठ करने के कारण लोग इसे हठयोग कहने लगे।

माँ पार्वती ने प्रतिज्ञा किया कि मुझे करोड़ों जन्मों में भगवान मिलें, लेकिन सद्गुरू के वचनों को न छोड़ने तथा योगपथ से न हटने का हठ कर लिया। न कि अलग से कोई क्रिया पकड़ ली। इसी प्रकार भगवान बुद्ध हठ करके एक जगह बैठ गये और कहा कि जब तक परम तत्व परमात्मा विदित नहीं हो जाता। तब तक मैं यहां से नहीं उठूंगा। उन्हें चालीसवें दिन सफलता मिल गई। भजन वह भगवान का ही कर रहे थे। प्राप्ति में विघ्न देखकर उन्होंने हठ किया। भगवत पथ में हठ (टेक) आवश्यक है, अत्यधिक लगन से हठ स्वाभाविक हो जाता है। इसी प्रकार साधक अपनी एक-एक वृत्ति को परमात्मा में लय करता है, जिस कारण इसे लय योग कहते हैं। इसे पर+लय भी कहते हैं। सबसे परे परमात्मा में प्रत्येक वृत्ति को लय करते-करते अंतिम वृत्ति के लय के साथ मन का भी लय हो जाना महाप्रलय कहलाता है। योग की शुरूआत नाम जप से है। संसार के सभी संकल्प बंद हो जाय मात्र श्वाँस में प्रभु का नाम रह जाय यह जप योग कहलाता है। नामजप की प्रक्रिया में सांसारिक संकल्प एवं द्रश्य बाधक बनते हैं। इन्हें बार-बार हटाकर पुनः नामको पकड़ने का अभ्यास तप योग कहलाता है। मन सहित इन्द्रियां सब ओर से सिमटकर जब हृदयदेश में स्थिर हो जाती हैं तभी योगी नाभि कमल से उठनेवाली ध्वनि पकड़ पाता है। जब श्वांस के जाप में क्रमबद्ध एकलयता आने लगती है तो बाह्य संकल्पों का अभाव हो जाता है। तब जन्म जन्मान्तरों के संस्कार जो क्रम से

कुण्डलाकार नाभि (केन्द्र) में पड़े हैं जाग्रत होकर विघ्न उपस्थित करते हैं। उन सबको काटते हुए योगी अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा अपने सभी विचारों को उर्ध्वमुख कर लेता है। यही कमलों का खिलना है। जिसे कुण्डलिनी योग कहते हैं। पहले यह संस्कार संसार में जन्म देने वाले थे अधोगति के कारण थे। इन संसार जनित विचारों एवं संस्कारों के आशय को साधक ब्रह्मविद्या द्वारा बदलकर योग परक ढालता है जो कुण्डलिनी योग कहलाता है। राजयोग अर्थात् निश्चित कल्याण (जैसे राज रोग निश्चित मौत पहले सभी असाध्य रोगों को राजरोग कहते थे जो मृत्यु का सूचक माना जाता था) इस राजयोग की अवस्था प्राप्त करने वाले को राजर्षि कहा जाता है। ऐसा नहीं कि भोग भोगते हुए कोई राजयोग में प्रवेश पा जाये।

जब तक एक भी मायिक संकल्प शेष है तब तक योगी दीर्घकाल तक श्रद्धापूर्वक निरन्तर साधनारत रहकर मल विच्छेप को सर्वथा निर्मूल कर तत्पश्चात् स्वरूप में स्थित होता है। इसी तथ्य को इंगित करते हुए भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि न उकताये हुये चित्त से करना ही मेरा कर्तव्य है। ऐसा मानकर जो साधक योग में आरूढ़ होता है उसी का योग सिद्ध होता है।

भगवान बुद्ध ने कहा कि धीरे-धीरे ही सही नदी की तरह अनवरत साधना में चलने वाले साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। काल क्रम से चट्टाने घिस जाती हैं अर्थात् निरन्तर लगने वाला साधक चट्टान की तरह कठिन से कठिन संस्कारों को पार कर अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। भगवान बुद्ध ने कहा कि जो साधक अरणिमंथन करने वाले व्यक्ति की तरह बार-बार रूकता है। वह कभी अग्नि नहीं प्राप्त करता अर्थात् ईश्वर रूपी अग्नि को नहीं प्राप्त कर सकता। जिसमें सम्पूर्ण कर्म जल जाते हैं। महर्षि पातंजलि भी यही कहते हैं कि सतत् श्रद्धापूर्वक लगने वाला साधक ही सफल होता है। भगवत पथ में सभी महापुरूष एकमत हैं।

संयोग और वियोग से रहित आत्मा एवं परमात्मा के मिलन का नाम योग है। आत्मा एवं परमात्मा के बीच दूरी का कारण संसार संबंधी विचार है। इन्हीं विचारों को सतत् योगाभ्यास के द्वारा सर्वथा निर्मूल करके योगी योगारूढ़ होता है। योग के संबंध में संशय होने पर अर्जुन ने भगवान श्री कृष्ण से प्रश्न

किया कि भगवन्! जैसे छोटी सी बदली आकाश में उठती है, वह न तो बरस पाती है, न पुनः बादलों से मिल पाती है बल्कि हवा के झोंकों से छिन्न भिन्न होकर तितर-बितर होकर नष्ट हो जाती हैं। कहीं इस योग का भी तो ऐसा नहीं होता कि योगपथ पर चलने वाला न तो भोगों को ही भोग पाया न ईश्वर को ही प्राप्त कर सका? वह योगी उभयभ्रष्ट तो नहीं हो जाता? ऐसा अर्जुन का संदेह था, सच्चे पथिक के अन्दर वास्तविकता को समझने की जिज्ञासा अवश्य होनी चाहिये।

अर्जुन के इन वचनों को सुनकर संदेह का निवारण करते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन योग का कभी विनाश नहीं होता। योगाचरण में शिथिल प्रयत्न वाला ही क्यों न हो वह भी शनैःशनैः एक दिन परमधाम को प्राप्त हो जाता है। पूर्व जन्म के योगाभ्यास वश वह योग पथ का ही अनुसरण करता हुआ एक दिन योग के परिणाम परमात्मा को प्राप्त करता है। शरीर की आयु पूरी होने तक यदि लक्ष्य नहीं मिला तो वह योगी कहां जन्म लेता है? इस पर कहते हैं कि अर्जुन! वह योगी पवित्र अन्तःकरण वाले श्रीमानों के कुल में जन्म लेता है और वहीं से अनायास पूर्वकृत अभ्यासवश क्रिया के संयोग को प्राप्त कर लेता है अथवा श्रीमानों के यहां जन्म न लेकर वह सीधे रैदास, कबीर, मोहम्मद, सूपा भगत एवं ईसा इत्यादि की तरह योगियों के कुल में प्रवेश पा जाता है। अर्जुन यह जन्म निःसंदेह अत्यन्त दुर्लभ है। इस योग की विशेषता यही है कि "**लोकलाहु परलोक निवाहू।**" इस मनुष्य लोक में लाभ अर्थात् पूर्ण समृद्धि एवं अनुकूलता के साथ परलोक भी सुरक्षित है।

संसार में सर्वश्रेष्ठ जीवन एवं भोगों का तथा ईश्वर प्राप्ति का दोनों का स्रोत यह योगपथ है। गृहस्थ, विरक्त, स्त्री,, वैश्य, शूद्र, सदाचारी तथा दुराचारी कोई भी इस योग का आचरण करते हुए पवित्र होकर संसार के श्रेष्ठतम् भोगों को भोगते हुए परमात्मा को प्राप्त होते हैं। योग देवी-देवताओं एवं परम्पराओं में न उलझाकर सीधे परमात्मा से जोड़ने वाली क्रिया है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन, मनुष्य श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओं की भी पूजा करते हैं। प्रकारांतर से वह मुझे ही पूजते हैं। लेकिन वह पूजा उनकी अविधिपूर्वक है तो विधि क्या है? इस पर कहते हैं कि अर्जुन मन सहित इन्द्रियों को अपने आधीन करके एक परमात्मा में अपनी श्रद्धा को केन्द्रित

करते हुए ऊँ का जाप तथा मेरे स्वरूप अर्थात् (सद्गुरू के स्वरूप) का ध्यान करते हुए एक दिन वह परम धाम को प्राप्त करता है। किसी महापुरूष के संरक्षण में ही योगाचरण संभव एवं सुरक्षित है।

एक अन्य प्रकरण में भी योगेश्वर श्रीकृष्ण योग का महत्व स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अर्जुन देवताओं को पूजने वाला देवताओं को प्राप्त होता है, भूतों को पूजने वाला भूतों को प्राप्त होता है, पितरों को पूजने वाला पितरों को प्राप्त होता है, लेकिन मेरा भक्त मुझे प्राप्त होता है। अर्जुन तू निश्चयपूर्वक जान कि मेरे भक्त का कभी विनाश नहीं होता। ब्रह्मा तथा उससे निर्मित देव-दानव तिर्यकादि सभी योनियां परिवर्तनशील हैं, मरणधर्मा हैं, लेकिन योगी योगपथ का आचरण करके उसके परिणाम में अमरत्व प्राप्त करता है अर्थात् योगपथ में चलने वाले की कभी किसी काल में हानि नहीं होती। लक्ष्य नहीं मिला उससे पहले शरीर छूट गया तो भोगों की कामना वाला सर्वश्रेष्ठ भोग प्राप्त करता है। उन्हें भोगकर जहाँ से उसका भजन छूटा था वहीं से उसे भजन मिल जाता है। पूज्य परमहंस महाराज जी थोड़े ही समय में अल्प प्रयास से ही योग की ऊँचाई में पहुंच गये। प्रसंगवश कभी-कभी कहते थे कि जैसे कोई वस्तु कहीं रखी है और अनायास ही वह मिल जाय।

योग की शुरूआत परमात्मा के प्रति अटूट आस्था ओऽम् के जाप के साथ सद्गुरू के स्वरूप का ध्यान करते हुए सम्पूर्ण शुभाशुभ वृत्तियों को परमात्मा में विलय करना है। अंतिम वृत्ति के विलय के साथ ही दृष्टा अपने स्वरूप को प्राप्त होता है। जो सतत् अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा संभव है। अभ्यास निरन्तर करते रहने से ही योग में द्रढ़ता आती है। अल्प अभ्यास प्रकृति के संयोग से मन को विचलित होने से रोकने में सक्षम नहीं है। इसलिये सतत् अभ्यास अर्थात् बार-बार यत्नपूर्वक अपने मन को लक्ष्य (परमात्मा) में लगाये रखना है। पूज्य गुरूदेव भगवान कहा करते हैं कि मन यदि भजन से छूटेगा तो प्रकृति में कार्य करेगा। इसलिये इसे योग में ही न कहीं उलझाये रखों। नाम में, रूप में, लीला में, सत्पुरूषों की सेवा में, कहीं न कहीं लगाये रखो। ऐसा करने में कहीं अश्रद्धा न हो क्योंकि भगवान श्री कृष्ण ने गीता में कहा है कि बिना श्रद्धा का दिया हुआ दान, तपा हुआ तप, होमा हुआ हवन का न तो इस लोक में कोई फल मिलता है न परलोक में। यही योग दर्शनकार का कहना

है कि सत्कारपूर्वक अर्थात् श्रद्धापूर्वक निरन्तर अभ्यास करते रहने पर योग दृढ़ होता है। तब विचलित होने की संभावना नहीं रहती है। अत्यन्त अल्पज्ञ भी सतत् अभ्यास के द्वारा ईश्वर को प्राप्त करके सर्वश्रेष्ठ विद्वान हो जाता है।

करत करत अभ्यास के जड़मत होत सुजान।
रसरी आवत जात है, सिल पर परत निशान॥

अभी तक अभ्यास के बारे में चर्चा की गई है अब वैराग्य के बारे में विचार करेंगे।

दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्॥१५॥

देखें और सुने हुए जितने भी मृत्युलोक एवं स्वर्गलोक के विषय भोग हैं उनमें सर्वथा चित्त की तृष्णा रहित अवस्था ही वैराग्य है।

योगी का मन स्वर्ग के श्रेष्ठतम भोगों के प्रति भी चलायमान नहीं होता। ऐसी अवस्था मन की वशीकार संज्ञा (मन की विजेता अवस्था) कहलाती है अर्थात् योगी का मन भोगों के आधीन नहीं होता बल्कि परिणाम को ध्यान में रखते हुए योगी अपने मन को वश में रखता है। योगी योग का अभ्यास करते-करते विवेक द्वारा भली प्रकार इस बोध को प्राप्त होता है कि यदि स्वर्गादि श्रेष्ठतम भोगों का परिणाम दुःख ही है तो मृत्युलोक के भोगों का कहना ही क्या है? **''स्वर्गहुस्वल्प अंत दुखदाई''** राजा नहुष इन्द्र पद से च्युत होने के बाद अजगर योनि में जन्म लिया, इसलिए अर्जुन ने स्वर्ग की श्रेष्ठ सुन्दरी उर्वशी को स्वीकार नहीं किया। यमराज के देने पर भी नचिकेता ने स्वर्गादि लोकों के भोगों का मन से भी समर्थन नहीं किया। वास्तव में सच्चे लगनशील साधक को श्रेष्ठ से श्रेष्ठ भोग प्रसन्नता नहीं दे सकते। उसकी प्रसन्नता तो एकमात्र परमात्मा को छोड़कर किसी में भी नहीं है। वह कुछ भी नहीं चाहता यदि चाहता है तो उसे भोगों के परिणाम का बोध नहीं है, और ऐसे साधक को बार-बार दुखःरूप योनियों में जन्म लेना पड़ता है। पूज्य परमहंस महाराज जी कहा करते थे कि-

लोक भोग परलोक का सब, विधि त्यागै राग,
रहे न तिनकी कामना ताहि कहै बैराग।

इसे और स्पष्ट करते हुए कहा करते थे कि निराधार विचरण ही सही

रूप में वैराग्य कहलाता है। ऐसे साधक की कहीं आसक्ति नहीं होती है। उसके लिए तो **''एक आधार राम गुन गाना।।''** सभी आधार छोड़कर एक ही आधार रहता है केवल ईष्ट चिन्तन और उस पर अटूट विश्वास के साथ अडिग रहना।

साधनाकाल में साधना के प्रति आसक्ति रहती है। इस आसक्ति से भी साधक कब उपरत होता है इस पर कहते हैं कि-

तत्परं पुरूष ख्यातेर्गुणं वैतृष्ण्यम्।।१६।।

पुरूष ख्याते अर्थात् पुरूष के ज्ञान से अर्थात् परम पुरूष परमात्मा की प्राप्ति के साथ वह योगी तीनों गुणों के परिणाम जन्म-मृत्यु से उपराम होकर पर वैराग्य को प्राप्त हो जाता है अर्थात साधक सर्वदा निराभिमान एवं आशक्ति रहित हो जाता है।

अब इस अवस्था में साधना के प्रति भी आसक्ति नहीं रहती क्योंकि साधना का परिणाम परमात्मा अब उससे विलग नहीं है। अब किसके लिए साधना करें इसलिए वह सबसे उपरत हो जाता है यही पर वैराग्य है। साधक का वैराग्य के प्रति भी वैराग्य हो जाता है अर्थात् साधक सर्वत्र निराभिमान रहित हो जाता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण अर्जुन को इस अवस्था के बारे में समझाते हुए कहते हैं कि अर्जुन! भली प्रकार अनासक्त होकर कर्म में बर्तने वाले ज्ञानीजन कर्म की आसक्ति वाले अज्ञानियों के चित्त में भ्रम न पैदा करें, भली प्रकार कर्म में बर्तते हुए उन अज्ञानियों को भली प्रकार कर्म में प्रवत्त रखें, यदि ऐसा वह महापुरूष नहीं करता तो प्रजा की हत्या करने वाला है। अपने को संबोधित करते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन यद्यपि मेरे लिए कोई भी अप्राप्य वस्तु प्राप्त करने योग्य नहीं है। फिर भी पीछे वालों की हित की इच्छा से मैं सावधान होकर भली प्रकार कर्म (साधना) में ही बर्तता हूँ यदि ऐसा न करूं तो सम्पूर्ण प्रजा का हनन करने वाला और वर्ण शंकर का कर्ता बनूं।

जिस परमात्मा की प्राप्ति के लिए साधक वैराग्यादि दैवी गुणों को धारण करता है। लक्ष्य विदित हो जाने पर इन गुणों की उस योगी को कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इसलिए इन दैवी गुणों के प्रति भी सर्वथा आसक्ति

रहित हो जाता है। रावण के मरते ही भगवान राम ने वानरी सेना (दैवी सम्पत्ति) को विदा कर दिया। योगेश्वर श्री
कृष्ण ने भी सभी असुरों के मरते ही यदुवंशियों (सदैव परमात्मा की स्मृति में सहायक दैवी सम्पत्ति) को आत्मसात् कर लिया।

सूत्रकार ने यहां तक साधना की पराकाष्ठा तथा उसके परिणाम की प्राप्ति के साथ पर वैराग्य को प्राप्त हुए साधक की अवस्थाओं का चित्रण किया लेकिन इससे पहले साधनाकाल में उपलब्ध अवस्थाओं का चित्रण नहीं किया। अब उसी को अगले सूत्र में बताते हैं कि साधना काल में सा धक किन-किन अवस्थाओं से गुजरता है साधना कहाँ तक करनी है।

वितर्क विचारानन्दास्मितानुगमात्सम्प्रज्ञातः।१७।।

वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता से युक्त चित्त की अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है।

वितर्क, विकारों के पूर्ण रूप से निर्मूल होने पर ही तर्क, वितर्क, विचार निर्मूल होते हैं। साधना की सूक्ष्मावस्था में भी विचार रहते हैं। ईश्वर में पूर्ण रूप से विलय पाने के लिए अपनी अवस्था पर विचार कि हम ज्ञानी हैं, ध्यानी हैं हमारा ध्यान लग जाता है, समाधि लग जाती है। हम दूसरे के मन की बात जान लेते हैं। ऐसे तर्क भी विलय में बाधक होते हैं। शुभाशुभ सभी वृत्तियां भली प्रकार शान्त होने पर ही योगी निर्विकल्प समाधि को प्राप्त होता है। नारद जी को कामदेव पर विजय मिलने से उस पर विचार मात्र से उपहास का पात्र बनना पड़ा, ईश्वर से दूरी बढ़ गई। नारद जी विचरण करते हुए हिमालय की तलहटी में पहुंचते ही समाधिस्थ हो गये। उसी समय कामनाओं का संचार महसूस हुआ उन पर विजय के साथ विजय की प्रसन्नता हुई। मेरी जीत हुई ऐसा विचार भी निर्वीज (निर्विकल्प) समाधि के लिए व्यव धान है। इसलिए इस वितर्क को सूत्रकार और अधिक स्पष्ट साधना पाद के तैतीसवें एवं चौतिसवें सूत्र में करेंगे।

विचार चाहे योग संबंधी हो या भोग संबंधी चित्त में विक्षेप तो पैदा करते ही हैं। यह बात अलग है कि योग संबं धी विचार में ईश्वर की अनुकूलता विशेष रहती है, लेकिन निर्विकल्प समाधि में इन सबका अभाव हो जाता है।

सम्प्रज्ञात समाधि में वितर्क, विचारश अस्मिता (दृष्टा एवं दृश्य का एक सा होना) तथा योग संबंधी आनन्द की प्रतीत रहती है। सम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् समप्रज्ञा ईश्वर की पूर्ण अनुकूलता सद्गुरू के समानान्तर की प्राप्ति ही सम्प्रज्ञात समाधि है। लेकिन सद्गुरू की तरह स्वरूप में स्थित होने के लिए निर्विकल्प समाधि आवश्यक है। सम्प्रज्ञात समाधि को अधिक स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

विराम प्रत्ययाभ्यास पूर्वः संस्कार शेषोऽन्यः।१८॥

विराम प्रत्यया अर्थात् वृत्तियों के पूर्ण निरोध की अवस्था निरंतर अभ्यास के द्वारा प्राप्त होती है, इस अवस्था में संकल्पकर्ता मात्र चित्त शेष रहता है। जिसे सम्प्रज्ञात समा धि कहते हैं।

इस अवस्था में यदि योगी का शरीर छूट जाता है। उसके संस्कारों का निर्माता यह चित्त परमात्मा में विलय नहीं हो पाया तो वह शरीर छोड़ने के बाद जिस अवस्था में जन्म लेता है। उस पर प्रकाश डालते हैं।

भव प्रत्ययो विदेह प्रकतिलयानाम्।१९॥

जिस योगी की प्रकृति लय अर्थात् सम्पूर्ण संस्कारों (संकल्पों) का ईश्वर में लय हो जाता है। यही संस्कार ही पिंड रूप में जन्म देता है। प्रकृति के लय के साथ योगी शरीरों से छुटकारा पा जाता है। इसी अवस्था को विदेह अवस्था (अर्थात् देहों से छुटकारा) कहते हैं। ऐसे योगी का जन्म भवप्रत्य कहलाता है। उसे साधना श्रम नहीं करना पड़ता। वह जन्म से ही सम्पूर्ण योग की विभूतियों से युक्त होता है। उसका जन्म लेना ही कारण है। जन्म लेते ही चित्त भी परमात्मा में विलय हो जाता है। जैसे योगेश्वर श्रीकृष्ण, भगवान श्रीराम आदि महापुरूष। ऐसे महापुरूषों में जन्म से ही अलौकिकता होती है।

भव प्रत्यय योगी तो जन्म के साथ ही ईश्वर में विलय प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि उनकी साधना पिछले जन्म में ही पूर्ण हो गई थी। मात्र चित्त शेष था जन्म के साथ चित्त का भी विलय हो गया लेकिन अन्य साधकों का जिनके कर्म समूह अभी शेष हैं। परमात्मा में विलय नहीं हुए उन्हें क्रम-क्रम से साधना में सतत् लगकर इस अवस्था को प्राप्त करना है, साधना में कैसे आगे बढ़ना है इस पर कहते हैं।

श्रृद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्।२०।।

अन्य साधक स्मृति, श्रृद्धा, सामर्थ्य एवं प्रज्ञा पूर्वक क्रमशः समाधि पर्यन्त दूरी तय करते हैं।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देकर जब संसार के परिणाम का बोध कराया तो अर्जुन ने इस सत्य को स्वीकार कर योगेश्वर श्रीकृष्ण से कहा कि-

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादातन्मयाच्युत।
स्थितिोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव।।

भगवन! मेरा मोह नष्ट हो गया है मैं आपकी कृपा से स्मृति को प्राप्त हो गया हूँ। मेरा संदेह मिट गया है। अब मैं आपके आदेश का भली प्रकार पालन करूंगा। पहले अर्जुन ने साफ इंकार कर दिया था कि गोविंद मैं युद्ध नहीं करूंगा लेकिन स्मृति के प्राप्त हो जाने पर वह आदेश पालन के लिए तैयार हो गया। स्मृति का अर्थ खोई हुई वस्तु का प्रकट होना। जब मनुष्य कहीं कोई वस्तु रखकर भूल जाता है तो एकान्त में बैठकर जब वह चिन्तन करता है कि मैं कहाँ-कहाँ गया किससे मिला, कहाँ पर रूका। इस प्रकार मन एकाग्र होने पर उसकी स्मृति वापस लौट आती है। वस्तु जहाँ रखी है उसे दिखाई देने लगती है। ठीक इसी प्रकार जब कोई भी पुण्यात्मा महापुरूषों के संग एवं उपदेश से चिंतन में प्रवृत्त होता है। क्रमँ-क्रम के अभ्यास के फलस्वरूप चित्त की एकाग्रता में उसे अपनी स्मृति वापस मिलती है कि वास्तव में मैं कौन हूँ मेरा कर्तव्य क्या है और अपने कर्तव्य पर आरूढ़ होकर वह आत्मा को अनन्त योनियों से बचाने के लिए सद्गुरू के निर्देशन में चलने के लिए तैयार हो जाता है, लेकिन भगवत पथ पर चलने के लिए श्रृद्धा नितान्त आवश्यक है। सूत्रकार पूर्व सूत्र में श्रद्धा पर पहले भी बल दे चुके हैं। यहां पुनः उसी श्रृद्धा पर बल दे रहे हैं क्योंकि भगवत पथ-

बिना पैर का पंथ है बिन बस्ती का देश।
बिनु शरीर का देव है कह कबीर संदेश।।

योगपथ बिना पैर के मन की श्रद्धा द्वारा ही तय होता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा अर्जुन बिना श्रृद्धा के दिया हुआ दान, तपा हुआ तप, होमा

हुआ हवन, किया हुआ कर्म न इस लोक में फलदायक है न परलोक में। इसलिए श्रृद्धा नितान्त आवश्यक है। साधक क्रम-क्रम से योगाभ्यास द्वारा निर्मलता को प्राप्त होता है, जितना बुद्धि ईश्वरीय प्रकाश से युक्त होती जायेगी उतनी ही उसमें ईश्वरीय सामर्थ्य (वीर्य) बढ़ता जायेगा। ईश्वरीय प्रकाश से युक्त वृद्धि को ही प्रज्ञा कहा गया है। ''प्रज्ञानं ब्रह्म'' जितना अन्तःकरण बाह्य विचारों से शून्य होता जायेगा। उतना ही समाधि का स्तर उठता जायेगा। स्मृति के प्राप्त होते ही साधक श्रृद्धा के साथ अपनी सामर्थ्य (वीर्य) के अनुसार अपने स्वरूप की तरफ चलता है। क्रमशः अभ्यास करते-करते समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

अगले सूत्र में साधक की लगन के ऊपर सफलता की शीघ्रता का वर्णन करते हैं।

तीव्रसंवेगानामासन्नः॥ २१॥

जो तीव्रता से लक्ष्य की ओर अग्रसर है, उन्हें शीघ्र ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

संसार में देखा भी जाता है कि एक ही जगह पहुँचने के लिए कोई हवाई जहाज का सहारा लेता है, कोई ट्रेन, बस, कार या मोटर सायकिल का, कम साधन वाला साईकिल या पैदल सफर करता है। जिसके पास जितना तेज साधन है, वह उतना ही शीघ्र लक्ष्य तक पहुँचेगा। जो हवाई जहाज से जा रहा है वह अतिशीघ्र अपने लक्ष्य तक पहुँच जाएगा। जो पैदल है वह देर से पहुँचेगा। भगवत पथ में भी ऐसा ही है, जो साधक सद्गुरू से साधना को भली प्रकार समझकर सम्पूर्ण मन से सतत् साधनारत है। मीरा एवं सुतीक्ष्ण की तरह लगनशील है। भरत की तरह भोगों के प्रति पूर्णतः अनासक्त है। वह शीघ्र ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, लेकिन जिनके लगन में शिथिलता है। उन्हें लक्ष्य की प्राप्ति में देर होती है। लक्ष्य शिथिल प्रयत्न वालों को भी प्राप्त होता है, क्योंकि योग साधन का कभी किसी काल में विनाश नहीं है। इस पथ पर चलने वाले का निश्चित कल्याण होता है।

अगले सूत्र में बताते हैं कि तीव्र संवेग वालों में भी समय का अन्तर पड़ जाता है उसका क्या कारण है?

मृदुमध्याधिमात्रत्वान्त् ततोऽपि विशेषः॥ २२॥

संस्कार मृदु, मध्य एवं अधिक मात्रा में होने के कारण तीव्र संवेग वालों में भी काल का भेद हो जाता है।

योग की सात भूमिकाएं होती हैं, शुभेच्छा, सुविचारणा, तनु मानसा, सत्वापत्ति, असंक्सक्ति, पदार्थ भावना एवं तुर्यगा। संसार में पूरी शिक्षा पाने के बाद अगले जन्म में उसे नए सिरे से शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती है, लेकिन योगपथ में ऐसा नहीं है। आप जितनी भूमिकाओं को पार कर लेगें उससे आगे की भूमिकाओं में प्रवेश करना है। जो साधक योग की भूमिकाओं में जितना आगे हैं उसके अन्दर संस्कारों की मात्रा भी उतनी ही हल्की होती है। ईश्वर की अनुकूलता भी अधिक होगी। इसलिए कई साधकों का त्याग, वैराग, अनुराग, लगन, एवं विवेक के साथ योग क्रिया के लिए दिया जाने वाला समय बराबर होने के बाद भी लक्ष्य प्राप्ति में अन्तर आ जाता है। जिस साधक के संस्कार थोड़े ही रह गए हैं उसे सफलता शीघ्र मिलेगी। संस्कारों की मात्रा (अवस्था) जिसके अन्दर जैसी है उसके लक्ष्य में शीघ्रता अथवा विलम्ब उतना ही होता है। बहुत से साधक एक साथ बराबर समय देते हैं। सबके अन्दर बराबर त्याग वैराग्य है। फिर भी संस्कारों के भेद से प्राप्ति में काल का भेद हो जाता है।

अभी तक साधना की उपलब्धि एवं विशेषता पर प्रकाश डाला गया है। सूत्रकार महर्षि पातंजलि ने यह नहीं बताया कि साधक अपनी वृत्तियों को कहाँ निरोध करें? साधक किसके माध्यम से अपनी साधना पूर्ण करता है? उसकी सफलता का स्रोत क्या है? अगले सूत्र में इसी पर प्रकाश डाल रहे हैं।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा॥ २३॥

ईश्वर के प्रति समर्पित होकर सतत् वृत्तियों के निरोध का अभ्यास करते-करते ही योग सिद्ध होता है।

ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कहीं भी वृत्तियों का पूर्ण निरोध सम्भव नहीं है। यदि ऐसा होता तो सूत्रकार या विश्व में हुए समस्त दार्शनिक अन्य पक्ष को भी रखते।

जिस ईश्वर को समर्पित होकर साधक अपनी वृत्तियों का पूर्ण निरोध करके योग सिद्ध होता है। उसका लक्षण क्या है? उसके गुणधर्म क्या हैं? उस

ईश्वर को हम कहाँ खोजें? इस पर कहते हैं-

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरूषविशेष ईश्वरः।२४।

क्लेश, कर्म एवं उसके फल तथा कर्म संस्कारों से रहित अवस्था वाला विशेष पुरूष ही ईश्वर है।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेष यह पांच क्लेश हैं। कर्म अर्थात् भजन तथा इसका परिणाम (परमात्मा) विपाक आशय (संस्कारों के समूह) जिसका परिणाम जन्म-मृत्य, सुखु-दुख है से सर्वथा संबंध रहित पुरूष विशेष को ईश्वर कहा गया है। मुख्य अविद्या है, इसी से संपूर्ण विकारों की उत्पत्ति होती है। विकारों के समूल नष्ट होने पर ईश्वर का हृदय में पूर्ण साम्राज्य स्थापित हो जाता है। राम राज्य में सर्वप्रथम अविद्या ही निर्मूल होती है।

''प्रथम अविद्या निशा सिरानी''

अविद्या से ही अस्मिता का भ्रम होता है राग-द्वेष प्रकृति में है, भय प्रकृति में है परमात्मा में नहीं। ईश्वर में विलय के साथ अविद्या जनित सम्पूर्ण विकार निर्मूल हो जाते हैं। जमुना नदी,, गंगा नदी में मिलते ही अपना नाम रूप खोकर गंगामय हो जाती है। इसी प्रकार साधना के परिणाम में साधक ईश्वर में विलय के साथ ईश्वरमय हो जाता है। ऐसी स्थिति वाले पुरूष विशेष को ईश्वर कहा जाता है। सभी संतों ने इस सत्य को स्वीकार किया है।

''जानत तुमहिं तुमहिं होई जाई''

एक दार्शनिक ने कहा कि-

देखते-देखते क्या से क्या हो गया,
कतरा दरिया में गिरा और फना हो गया।

बूँद जब अलग है तो उसका नाम बूँद है। वही बूँद जब समुद्र में विलय हो जाती है तो समुद्र हो जाती है। उसके गुण धर्म धारण कर लेती है। जीवात्मा ईश्वर का विशुद्ध अंश है, **''ईश्वर अंश जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुखरासी''** मिश्री के पहाड़ से मुह लगाकर चखो, उसमें से एक टुकड़ा लेकर चखो दोनो की मिठास में कोई अंतर प्रतीत नहीं होगा। ईश्वर और ईश्वर के अंश जीवात्मा में कोई अंतर नहीं है। जीवात्मा के ऊपर प्रकृति

का आवरण है तथा ईश्वर इस आवरण से परे है। योगाचरण द्वारा समाधि की पराकाष्ठा में आवरण के निर्मूल होते ही आत्मा ईश्वर के गुण धर्मों से युक्त होकर उसी भाव को प्राप्त हो जाता है। यही महर्षि पातंजलि का निर्णय है।

राम नाम उर में गयो सो नर मुक्ता जानु।
तेहि नर हरि अन्तर नहीं नानक साँची मानु
(गुरुनानक)

अगले सूत्र में ईश्वर को प्राप्त पुरूष विशेष के गुण धर्मों का एवं अवस्था का उल्लेख करते हैं उसका कार्य क्षेत्र कहाँ तक हैं? इस पर प्रकाश डालते हैं-

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्॥ २५॥

जैसे ईश्वर सर्वज्ञ है वैसे ही वह पुरूष भी विलय के साथ सर्वज्ञता को प्राप्त हो जाता है।

मिश्री के पहाड़ में मुंह लगाकर देखो मीठा लगेगा, एक टुकड़ा अलग करके चख कर देखो उतना ही मीठा लगेगा। ईश्वर के अंश इस जीव में भी ईश्वर के सम्पूर्ण गुण धर्म होते हैं, लेकिन प्रकृति के घने आवरण के कारण उन गुणों का आभास नहीं हो पाता। साधना करते-करते जिस क्षण योगी अपने सम्पूर्ण विकारों को निर्मूल करने में सफल हो जाता है। तत्क्षण परमात्मा में विलय के साथ योगी स्वयं को उन गुणधर्मों से आवृत पाता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण इसके समर्थन में कहते हैं-

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

जिस योगी ने शरीर के रहते ही संसार को जीत लिया अर्थात् विकारों को निर्मूल कर दिया उसका मन सम तथा स्थिर हो गया। इ धर वह ब्रह्म भी सम एवं स्थिर है। इसलिए वह योगी ब्रह्म में स्थित हो जाता है, उसी के गुण धर्मों को धारण कर उसी भाव को प्राप्त हो जाता है। जिस योगी ने साधना के परिणाम में ईश्वर को प्राप्त कर लिया है उसकी सर्वज्ञता का बोध, दूरस्थ एवं समीपस्थ सभी चिन्तनरत भक्तों को मिलता रहता है। ऐसे महापुरूष संकल्प के साथ प्रत्येक भक्त का मार्गदर्शन करते हैं। वह विश्व के किसी कोने में रहता हो

लेकिन सदैव महापुरूष के निगाह में (समीप) रहता है। ईश्वर को प्राप्त प्रत्येक महापुरूष में यह विलक्षण विशेषता होती है। आप कहीं से भी श्रद्धा से स्मरण करो आपका मार्गदर्शन करेंगें लड़खड़ाओगे तो संभालेंगे। ईश्वर प्राप्त योगी की अन्य विशेषता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं-

पूर्वेषामपि गुरूः कालेनानवच्छेदात्॥ २६॥

वह पूर्वजों का भी गुरू है तथा काल से परे अकाल पुरूष है। इस अवस्था वाले जितने भी योगी हुए हैं। उन्होंने स्वेच्छा से शरीर का त्याग किया है। उनके शरीर छोड़ने में काल कारण नहीं होता। भगवान राम के पास यमराज साधु वेष में प्रार्थना करने आया, भगवान श्रीकृष्ण के पास ब्रह्मा आदि सभी देवता प्रार्थना करके अपने धाम में ले गये। इसी प्रकार भगवान बुद्ध के साथ भी हुआ। भगवान बुद्ध ने ब्रह्मा से कहा जब तक मेरे सभी शिष्य तथागत् नहीं हो जायेगें तब तक मैं नहीं जाउंगा। ब्रह्मा ने बताया भगवन्! वह तो कब के हो गये तब बुद्ध ने कहा मैं तीन महीने के बाद चलूंगा और उसी दिन सभी शिष्यों को बुलाकर कहा किसी को योग के बारे में कोई संदेह हो तो अभी पूछ लो क्योंकि मैं तीन महीने के बाद जाऊँगा। ठीक इसी प्रकार पूज्य परमहंस जी महाराज कहते थे कि जिस उद्देश्य के लिये यह शरीर मिला था वह पूर्ण हो गया। अब जिस दिन कोई गोली मार देगा (अशोभनीय बात कहेगा) उस दिन समझ लूंगा कि अब मेरी जरूरत नहीं है और शरीर छोड़ दूंगा। पूज्य गुरूदेव भगवान ने पूछा कि शरीर रखने में क्या आपत्ति है? तब बोले राम ने नहीं रखा, कृष्ण ने नहीं रखा, किसी महापुरूष ने नहीं रखा, किसी न किसी बहाने से शरीर छोड़ दिया। राम ने लक्ष्मण का बहाना लेकर, कृष्ण ने बहेलिया का बहाना लेकर, मैं भी किसी न किसी बहाने से शरीर छोड़ दूंगा।

ऐसे महापुरूष काल से परे होते हैं। सृष्टि में जितने इस पथ के पथिक सफलता को प्राप्त हुए हैं ऐसे महापुरूष के निर्देशन में ही चलकर ही हुए हैं। एक ही प्रकार की क्षमता सब में पाई गई है। ऐसे महापुरूषों ने समाज में कभी दरार नहीं डाली।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि अर्जुन मैंने इस योग को कल्प के आदि में सूर्य के प्रति कहा, जब भी जिसने येाग पथ में कदम रखा किसी योगेश्वर ने ही बताया। कोई भी योगी किसी काल में हुआ वह ईश्वर सदैव रहा है, रहेगा।

उसकी प्राप्ति का विधान भी एक ही रहेगा। शरीर कहीं का हो, कैसा हो, लेकिन उस योगी के माध्यम से बोलता तो भगवान ही है। तभी तो अनपढ़ होने के बाद भी संत कबीर ने वही कहा जो योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा। श्रीकृष्ण ने कहा मैंने इस योग को कल्प के आदि में सूर्य के प्रति कहा और कबीर कहते हैं-

''जन्म युगन मैं तोहि समझायउ तू नहि मानत मोहि''

अर्थात् मैं युगों-युगों से समझाता आया हूँ। इस योगपथ में जितने भी पथिक हुए हैं। इस पथ में चलने वालों के ये पूर्वज हैं। इन पूर्वजों ने ईश्वर प्राप्त किसी योगी के मा ध्यम से साधना की शुरूआत किया। ईश्वर के निर्देशन में चलकर वह भी उसी अवस्था को प्राप्त हो गये। इसलिए कहा कि वह महापुरूष पूर्वजों का भी गुरू है अर्जुन ने भी यही देखा-

पितासि लोकस्य चराचरस्य, त्वमस्य पूज्यश्च गुरूर्गरीयान्॥

जो ईश्वर को प्राप्त योगी है, वह सर्वज्ञ है, पूर्वजों का गुरू है। उसका संबोधन क्या है? इस पर देखें-

तस्य वाचकः प्रणवः॥२७॥

उस ईश्वर का वाचक नाम प्रणव अर्थात् (ओऽम्) है।

''सर्वाणि प्राणानि परमात्मेति इति प्रणवः॥''

यह शब्द सम्पूर्ण प्राणों को परमात्मा में लीन करता है, इसलिए इसका नाम प्रणव है। सभी महापुरूषों ने इसी नाम को पकड़कर काल से परे स्थिति पाई है। किसी ने इसे अनाहूँ, हूँ, हूँ, किसी ने आमीन, किसी ने ओम् कहा है। सबका आशय एक है।

इस प्रणव शब्द को बुद्धिजीवियों ने पृथक-पृथक दृष्टिकोंण से प्रस्तुत करके अपना मत प्रस्तुत किया है। किसी ने अ, ऊ और म को क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु एवं शंकर की कल्पना कर लिया, किसी ने तीनों लोको की, तो किसी ने सत्, रज एवं तम गुणों की कल्पना करके इसके जप में भेद बताकर भ्रम पैदा कर दिया है। लेकिन योग विशारद महर्षि पातंजलि ने अगले सूत्र में निर्देश देते हुए कहा है। कि-

तज्जपस्तदर्थभावनम्॥२८॥

उसी ओऽम् का जाप करें, उसके अर्थ स्वरूप किसी महापुरूष के

स्वरूप का चिन्तन करें। सूत्रकार की तरह प्रत्येक महापुरूष का यही निर्देश रहा है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि अर्जुन-

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं सयाति परमां गतिम्
।।गीता ८/१३।।

ओम् इति, ओम् इतना ही अक्षय ब्रह्म का परिचायक है। इसका जाप करो और मेरे स्वरूप का ध्यान करो। ऐसा करते हुए जो शरीर का त्याग करता है वह परम् गति अर्थात् मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है। समाज में यह व्यर्थ का भ्रम है कि गृहस्थ का मंत्र अलग है, विरक्त का मंत्र अलग, उदासी का अलग है, वैरागी का अलग है, निर्वाणी का अलग है, वैष्णव का अलग है, बालक का अलग है, जवान का अलग है, बूढ़े का अलग है। यदि किसी को कैंसर हो गया है वह सृष्टि में कहीं भी जन्मा है किसी उम्र का है। सबकी दवा एक ही होगी। यदि संत किसी को जान से मार देता है तो उसके ऊपर वही भारतीय दण्डसंहिता की धारा लगेगी जो एक गृहस्थ पर लगती है। गृहस्थ एवं विरक्त सब दुःख से छूटना चाहते हैं। दुःख का कारण संस्कार है और इन संस्कारों का विलय परमात्मा में है। यह बात अलग है कि गृहस्थ समय कम दे पाता है। विरक्त पूरा समय देता है। इसलिये वह दुःखों से शीघ्र निवृत हो जाता है। अर्जुन गृहस्थ ही था। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ओऽम् जपने को कहा।

श्री रामकृष्ण परमहंस देव यही बात विवेकानंद आदि अपने शिष्यों से कहते थे कि देखो अब तुम लोग संदेह मत करना। त्रेता में जो राम हुए थे, द्वापर में जो कृष्ण हुए थे, मैं उन्हीं की पवित्र आत्मा हूँ। यदि अपना कल्याण चाहते हो तो मेरे स्वरूप को देखो।

अनुसुइया के पूज्य परमहंस जी महाराज भी ऐसा ही कहते थे कि कहीं रहो सुबह शाम नियमित रूप से ऊँ अथवा राम का नाम जपो और मेरे स्वरूप को देखो। जिस दिन हृदय में मेरे स्वरूप को एक मिनिट पकड़ने की क्षमता आ जाएगी तुम्हारे हृदय से रथी हो जाऊंगा, मार्गदर्शन करूंगा। हमने भी पूज्य गुरूदेव भगवान के स्वरूप के ध्यान तथा ऊँ के जप से साधना की जागृति

पाई है।

उक्त साधना से साधक को क्या लाभ है? इस पर कहते हैं-

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥२९॥

साधना द्वारा "अन्तरायाभावः" अन्तराय विघ्न एवं संस्कारों का अभाव होकर योगी को "प्रत्यक्यतनाधिगमः" अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। जहाँ साधना शेष हो जाती है।

योगदर्शन के प्रणेता महर्षि पातंजलि का योग के संबंध में प्रस्तुतीकरण का अपना एक विशेष तरीका है। इस योग को सरलतम भाव से स्पष्ट करना उसके प्रभाव परिणाम तथा उसमें आने वाले व्यव धानों को बहुत ही मार्मिक तरीके से प्रस्तुत कर इसके प्रति सर्वसाधारण की जिज्ञासा को बढ़ाकर योग के महत्व को बढ़ाने का तथा रूचि पैदा करने का प्रयास किया है।

योग मन, बुद्धि से परे परमात्मा से मिलने का अनुशासनात्मक एवं क्रियात्मक पथ है। बौद्धिक स्तर से सभी धर्मशास्त्र मतवाद एवं परम्परावाद के पोषक प्रतीत होते हैं। लेकिन सभी धर्मशास्त्रों में एकेश्वरवाद का समावेश तथा उसे समान रूप से सबको प्राप्त करने का अधिकार देकर अर्वाचीन एवं समाचीन का सामंजस्य स्थापित करके योग की अनादिता को सिद्ध करते हैं।

महर्षि पातंजलि ने भी पहले योग साधना न बताकर समाधि को स्पष्ट किया जो योग का परिणाम है। वास्तव में किसी भी कर्म के परिणाम को जानकर प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को कृतार्थ करने का प्रयास कर सकता है। परिणाम में आकर्षक लाभ एवं भय का समावेश होता है। सूत्रकार का उद्देश्य भी यही है कि यदि मनुष्य सबसे पहले संसार के परिणाम को देखे उस पर विचार करे कि इस संसार में जीवन के अंत में क्या मिलेगा? जो काम कर रहे हो या जो विचार चल रहा है उसका परिणाम क्या है तो शायद संसार की तरफ चलने का कोई दुस्साहस नहीं करेगा? फिर मनुष्य सोचेगा कि संसार को छोड़कर जिधर मुझे चलना है उसका परिणाम क्या है? इस पर सर्वप्रथम सूत्रकार ने प्रकाश डाला है कि साधक अन्तराय विघ्नों के अभाव में संकल्पों का पूर्ण निरोध करके स्वरूप की प्राप्ति के साथ संसार के दुखों से सर्वथा उपराम हो जाता है। लेकिन अभी तक यह नहीं बताया कि अन्तराय विघ्न क्या है? उन

पर अधिकार कैसे प्राप्त किया जाय? अगले सूत्र में अन्तराय विघ्नों पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि-

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरति-भ्रान्तिदर्शानालब्ध भूमि कत्वानवस्थितत्वानि चत्तविक्षेपास्तेऽन्तराया:॥३०॥

ईश्वर के प्रतिकूल संकल्प चित्त में विक्षेप पैदा करते हैं। सा धना की सर्वोच्च अवस्था में ईश्वर संबंधी संकल्प भी विघ्न लगता है, लेकिन यहां सूत्रकार ने मुख्य विक्षेपों पर ही प्रकाश डाला है। विशेष रूप से व्याधि, स्तयान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति दर्शन अलब्ध भूमिकत्व एवं अनवस्थितत्व हैं जो साधन पथ में चित्त में विक्षेप पैदा कर साधक को विचलित करते हैं, दूरी पैदा करते हैं।

१. व्याधि-व्याधि का आशय रोग है। शारीरिक एवं मानसिक दोनों रोग भगवत् पथ में विघ्न के रूप में उपस्थित होते हैं। शरीर में उत्पन्न होने वाले अनेकों रोग भजन, सेवा से विचलित करते हैं। इसी को रामचरित मानस में संसार समुद्र पार करते समय हनुमान सुरसा मिलन के रूप में गोस्वामीजी ने दर्शाने का प्रयास किया है। यह विघ्न अच्छे-अच्छे साधकों को साधना से विचलित कर देता है। पेशाब के साथ कुछ रक्त निकलने पर पूज्य परमहंस महाराज जी भी कुछ पल के लिए चिंतित हो गये थे। हनुमान जी भी चिंतित हो गये कि परम् शान्ति कैसे मिलेगी? यह रोग तो बीच में ही शरीर नष्ट कर देगा। हनुमान जी के सामने सुरसा ने अपना शरीर बढ़ाना शुरू किया लेकिन हनुमान जी उससे दूने होते गये और इस विघ्न को पार कर लिया ''प्रबल वैराग्य दारून प्रभंजन सुत'' प्रबल वैराग्य ही हनुमान है जो प्रत्येक साधक में न्यूनाधिक रूप से पाया जाता है। ऐसा वैराग्यवान साधक जब संसार से पार जाने के लिए उड़ान भरता है तो शरीर का सुख एवं रोग का चिन्तन विघ्न के रूप में खड़ा होता है। साधक सोंचता है, निर्णय भी लेता है। लेकिन शरीर की सुख-सुविधाओं के बारे में सोचता है। हर व्यक्ति सुविधाओं के बीच ईश्वर को पाना चाहता है। लेकिन बिना भोगों के वैराग्य के इस पथ पर चलना असंभव है। सा धक सोचता है कि ऐसा शरीर का सुख जंगल में कहाँ मिलेगा? ऐसा विचार उसे कर्तव्य से विचलित करने लगता है लेकिन वैराग्यवान साधक एक पल में अपने विचारों को संयत कर लेता है। हनुमान जी विचलित होने पर

केवल प्रभु का स्मरण कर तत्काल संयत हो गये। वैराग्यवान साधक शरीर की नश्वरता पर विचार करके इस पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। यह सच भी है कि सर्व साधन सम्पन्न चार्ट के अनुसार भोजन, पानी या केवल फल, दूध लेने वाले व्यक्ति का भी शरीर काल कवलित होता है, रोगग्रस्त होता है तो इस शरीर की सुरक्षा के लिए चिन्ता क्या? बस ऐसा विचार साधक को विचलित होने से बचा लेता है।

भगवान महावीर के शिष्य मृगापुत्र को इसी भाव ने वैराग्य पथ पर अग्रसर किया उनके माता-पिता ने प्रत्यक्ष भोगों के सुख का प्रलोभन दिया तत्पश्चात् बीमार होने पर इलाज की तरफ ध्यान दिलाया। लेकिन अपनी पैनी बुद्धि से एवं प्रबल वैराग्य की भावना से उत्तर देते हुए कहा कि मैं अपने पूर्वभवों को याद करके यहां एक पल भी नहीं रूकना चाहता। जैसे जंगल में पशु-पक्षी रह लेते हैं वैसे मैं भी रह लूंगा। बीमार होने पर जंगल के पशु-पक्षियों का इलाज कौन करवाता है। रही बात भोगों की तो इनका परिणाम दुःख अवश्यसंभावी है। मैं पूर्व जन्मों में कितने बार आग में पकाया गया हूँ, कितने बार जंजीरों से बांधकर चीरा गया हूँ। संसार की अनंत असहनीय यातनाओं का भय मुझे एक पल भी महलों में नहीं रहने दे रहा है। इसलिए मैं संसार के दुःखों से छूटने का यत्न ही करूंगा। ऐसा कहकर वह महल से निकल पड़े। जबकि अपने माता-पिता की वह एकलौती संतान थे। अपने उत्कृष्ट वैराग्य के कारण वह अरिहंत हो गये।

प्रबल वैराग्यवान साधक शरीर की रक्षा के लिए किसी की अपेक्षा या याचना नहीं करते। लाख दवा कराने या सुस्वाद भोजन के बाद भी तो कोई शरीर को नष्ट होने से नहीं बचा सकता तो इसकी सुरक्षा के लिए किसी की याचना या आशा क्यों? ऐसा विचार साधक को दूने उत्साह से भगवत् पथ की ओर अग्रसर करता है लेकिन इसके साथ-साथ मानसिक रोग काम, क्रोध, मोह, दंभ, द्वेष इत्यादि बार-बार चित्त में विक्षेप पैदा करके विचलित कर देते हैं। अनुकूल दृश्य या शब्द से उत्पन्न विकार विश्वामित्र, नारद, श्रृंगी ऋषि, पाराशर इत्यादि जैसे उच्चकोटि के साधकों की भाँति विचलित कर देता है।

शारीरिक रोग तो साधक को कभी-कभी होता है, लेकिन मानसिक रोग से हर पल लड़ना पड़ता है। इनके उतार-चढ़ाव को साधक तथा सद्गुरू

के अतिरिक्त और कोई नहीं जानता।

चौ. मानस रोग कछुक मैं गाये। है सबके लखि विरलहि पाये।।
एक व्याधि वश नर मरहि, यह असाधि वहु व्याधि
पीड़हि संतत जीव वहु सो किमि लहहि समाधि।।

इस विघ्न के रहते कोई समाधि तक कैसे पहुंच सकता है। भगवान श्रीकृष्ण ने सबसे पहले इसी विघ्न को मिटाने की बात कही है। उन्होंने कहा कि इन विकारों के रहते कोई भी व्यक्ति कल्याण का आचरण नहीं कर सकता है। इसलिए अर्जुन इस भगवत पथ के दुर्जय शत्रु काम, क्रोध एवं लोभ जो नरक का द्वार हैं इन्हें तू मार ।इन पर अधिकार प्राप्त करने वाला साधक ही अपने कल्याण का आचरण कर पाता है।

२. स्तयान-चोरी करना साधक की जो अवस्था है उसे छिपाकर अपनी स्थिति का अच्छा प्रदर्शन करना चोरी होता है। कभी-कभी सा धक उन्नत अवस्था वालों की रहनी गहनी की नकल करने लगता है। ऐसा साधक भय को प्राप्त होता है।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञ भाविता:।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो को भुड्.क्तेस्तेन एव स:।(अ. ३/१२)

अर्जुन! यज्ञ अर्थात् भजन द्वारा दैवी सम्पत्ति को अर्जित किये बिना, दैवी सम्पत्ति के परिणाम स्वरूप (ईष्ट) परमात्मा को प्राप्त किये बिना जो इस अवस्था का भोग करता है अर्थात् ईश्वर प्राप्त महापुरूष की नकल करता है वह निश्चय ही चोर है न कि महात्मा। बाहर से वेश साधु का है समाज उसे साधु मानता भी है, लेकिन वह स्वयं जानता है कि मेरे अन्दर अभी विकार हैं। जब तक विकार हैं तब तक जीव है महात्मा नहीं। इस विघ्न से ऊपर उठते ही साधक आगे बढ़ जाता है। ईश्वर प्राप्ति की योग्यताएं साधक के अन्दर आने लगती है।

३. संशय-प्रकृति सत्य है या परमात्मा प्रथम यह संशय रहता है। इसका निवारण होने पर बहुत से साधक सद्गुरू की शरण में आकर भी संशय में पड़े रहते हैं कि यह भगवान है कि नहीं। इसलिए पूरी श्रद्धा से चिन्तन में नहीं लग पाते। साधकों के अन्दर रहता है कि भगवान कहीं और है। मन पुरानी

परंपरागत भावना से ग्रसित होता है, लेकिन देखा-देखी सेवा सुमिरन में समय देने से थोड़ी अनुभूति की जाग्रति होती है। उसे विश्वास होने लगता है। साधना पथ में कभी-कभी साधक को यह संशय हो जाता है कि पार लगेगा की नहीं, कभी-कभी संस्कारों के भयंकर वेग के कारण प्रकृति ही सत्य लगने लगती है। कभी-कभी गरूण की तरह भी संशय हो जाता है। प्रत्येक साधक को संशय होता है जो भगवत पथ में एक विघ्न है। अर्जुन को भी संशय हुआ था। उसने योगेश्वर श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हुए कहा कि गोविन्द मेरे संशयों को आप सम्पूर्णता से नष्ट करने योग्य हैं। आपके सिवा मेरे संशय का छेदन करने वाला दूसरा मिलना असंभव है। वास्तव में साधक की सरलता, निष्ठा एवं लगन से प्रभावित होकर सद्गुरू जब साधक के हृदय से रथी होकर पल-पल समझाने लगते हैं तत्पश्चात् प्रत्येक संशय के समा धान के साथ सा धक निर्विघ्न अग्रसर रहता है। संशय उत्पन्न होकर अन्तर्द्वन्द मचा देते हैं साधना से अलग कर देते हैं। इसलिए यह भी एक विघ्न है, लेकिन ईष्ट के निर्देशन में चलने वाला साधक सम्पूर्ण संशयों से पार हो जाता है।

४. प्रमाद-साधना काल में ईश्वरीय अनुभव एवं अनुभूतियों के उपलब्ध होने पर साधक इन्हीं को बहुत बड़ी उपलब्धि मान कर साधन की उपेक्षा करने लगता है इसी को प्रमाद कहते हैं, लेकिन जब तक लक्ष्य नहीं मिल जाता साधक को लेशमात्र भी साधन के प्रति प्रमाद नहीं करना चाहिये नहीं तो लक्ष्य से भटककर प्रकृति में कहीं न कहीं उलझ जायेगा। इसी प्रमाद वश आलस्य को स्थान मिल जाता है। फिर साधक देव के सहारे समय बिताने लगता है।

दैव-दैव आलसी पुकारा। कादर मन कर एक सहारा।

साधन पथ में आलस्य करना, साधन को कल पर टालना या अल्प समय देकर फिर कर लेंगे। ऐसा भाव साधना में शिथिलता लाकर प्रकृति को अवसर देता है। ऐसा भाव सा धक के पतन का कारण बनता है। इसलिए पूर्ति पर्यन्त अपने कर्तव्य पर तथा ईष्ट के आदेश पर ध्यान देकर अपने संस्कारों को शीघ्र नष्ट करने वाला सा धक बुद्धिमान कहलाता है। बाल के बराबर भी प्रकृति का अवकाश मिलने पर ईष्ट से अधिक दूरी पैदा हो जाती है। कागभुसुण्डि की तरह कई जन्मों का अन्तर पड़ जाता है। साधना में उपयुक्त चेष्टा न करना आलस्य है।

६. अविरत-प्रमाद एवं आलस्य वश साधना में शिथिलता ही प्रकृति में राग का कारण बन जाता है। यही वृत्ति धीरे-धीरे साधक को लक्ष्य से बहुत दूर ले जाती है। ईश्वर की प्राप्ति में वैराग्य का प्रमुख स्थान है। वैराग्य के अभाव में चित्त में विक्षेप स्वाभाविक है।

७. भ्रान्ति दर्शन-जिसने ईश्वर को प्राप्त कर लिया है। ऐसे महापुरूष के प्रति दृढ़ आस्था एवं श्रृद्धा से नियमित रूप से संयम के साथ नाम जप एवं स्वरूप ध्यान के अल्प प्रयास से वह महापुरूष अनुभवी सूत्रपात के साथ अनेक दृश्यों के माध्यम से साधना एवं भूत, भविष्य तथा वर्तमान की परिस्थितियों के बारे में बताने लगते हैं। इन अनुभवी दृश्यों का आशय कभी-कभी साधक नहीं समझ पाता है। उसका आशय कुछ होता है समझ कुछ पाता है। कभी-कभी ईष्ट भविष्य की श्रेष्ठ उपलब्धियों से संबंधित दृश्यों को प्रस्तुत कर देते हैं। जिसे साधक भ्रमवश वर्तमान अवस्था को समझ कर साधन छोड़ बैठता है। यही भ्रान्ति दर्शन है दर्शन में भ्रान्ति पैदा हो जाना है। जिससे साधन अवरूद्ध हो जाता है। जब साधक ईष्ट निर्देशन को भली प्रकार ग्रहण नहीं कर पाता, ना ही समझ पाता तो उस पर आचरण कैसे करेगा? भगवान क्या कह रहे हैं, कैसे बचना है? कैसे चलना है? इस निर्देशित आशय को ज्यों का त्यों न ग्रहण करने के परिणामस्वरूप साधक को जो योग में (स्थित) उपलब्धि मिलनी चाहिये नहीं मिल पाती क्योंकि ईष्ट क्रम-क्रम से दृश्यों एवं अन्य अनुभवी सूत्रपात के माध्यम से योग की सभी भूमिकाओं से पार करके स्वरूप की प्राप्ति करा देते हैं। लेकिन निर्देशनों को न समझने के कारण उन पर चलने की क्षमता न होने के कारण साधक उपलब्ध भूमिकत्व योग की अग्रिम भूमिकाओं को उपलब्ध नहीं कर पाता। जिसके परिणामस्वरूप साधक का चित्त चंचल हो जाता है और वह इस अवस्था में योग साधना के किसी क्षेत्र में गरूण की तरह अपने चित्त को स्थिर नहीं कर पाता है। गरूण को श्रीराम को नागपाश में बंधा देखकर भ्रान्ति हो गई थी। जिसके फलस्वरूप वह अपने को कहीं भी स्थिर नहीं कर सका।

इस भ्रान्ति दर्शन के परिणामस्वरूप साधक अनवस्थित्व अवस्था को प्राप्त होता है।

चित्त की चंचलता के और कई कारण हैं जिन पर आंशिक प्रकाश

सूत्रकार पुनः डाल रहे हैं।

दुःखदौर्मनस्याडंगमेजयत्वश्वासप्रश्वास विक्षेपसहभुवः।३१

दुख, दौर्मनस्य, अंग मेजयत्व, स्वॉस एवं प्रश्वॉस यह पांच विघ्न भी साधना के साथ-साथ चलते हैं।

संस्कारवश या संगदोष वश साधक साधना पथ से विचलित होने लगता है अथवा हो जाता है तो विरही साधक को दुःख होता है। वास्तव में दुख का कारण मन के द्वारा बनाए दुःख जनित संस्कारों का सृजन है। यह जन्म जन्मान्तरों के संचित संस्कार साधना काल में विक्षेप पैदा करके दुख उत्पन्न करते हैं। जिस कारण मन की अप्रसन्नता स्वाभाविक है साधक की उच्च अवस्था में ईष्ट की प्रतिकूलता साधक के दुख का कारण बन जाती है। उन्नत अवस्था में यही दौर्मनस्य है।

कभी-कभी शरीर के प्रति आसक्ति के कारण चित्त में विक्षेप पैदा हो जाता है। साधक शरीर की व्यवस्था सुख-सुविधाओं के बारे में सोचने लगता है। ऐसे विचार भी चित्त में विक्षेप पैदा करते हैं। साधक नाम का जप स्वॉस-प्रश्वॉस के द्वारा ही करता है। कभी-कभी बाह्य वायुमण्डल के संकल्प चित्त में टकराते हैं। कभी-कभी अन्दर से संकल्प उठकर चित्त में कम्पन पैदा कर देते हैं। अन्दर से उठने वाला संकल्प प्रश्वॉस का विघ्न है। बाहर से आने वाला संकल्प स्वॉस का विघ्न है। यह साधना के साथ-साथ होने वाले विघ्न हैं। इसलिए इन्हें सहभुवा विघ्न कहा गया है?

सूत्रकार ने इसी पाद के चौदहवें सूत्र में चित्त की दृढ़ स्थिति के लिए अभ्यास पर बल दिया। लेकिन यह नहीं बताया कि अभ्यास किस पर एवं कैसे करना है। उस अभ्यास के अधूरे प्रश्न को यहाँ पूर्ण कर रहे हैं जिसमें अभ्यास करके साधक समस्त विघ्नों से अपना बचाव करके चित्त को स्थिर कर सके, देखें-

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः॥३२॥

इन विघ्नों से बचने के लिए सतत् अपने मन को देवी देवताओं, परम्पराओं में न लगाकर एकतत्व अर्थात् एक परमात्मा में लगाना चाहिये। बार-बार चित्त को परमात्मा में लगाने का नाम ही अभ्यास है।

संसार के सभी महापुरूषों ने एक तत्व परमात्मा की प्राप्ति का यत्न करते-करते चित्त के विक्षेपों से उपराम होकर स्वरूप की स्थिति प्राप्त की है। ईष्ट की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता साधक के दुखें-सुख का कारण होता है।

एक तत्व परमात्मा की प्राप्ति हृदय के पूर्ण निर्मल होने पर होती है लेकिन एक तत्व के अभ्यास में क्या-क्या विघ्न आते हैं, चित्त क्या-क्या सोचता है, कहाँ-कहाँ फँसता है? अगले सूत्र में उस पर प्रकाश डालते हुए उनसे उपराम होकर चित्त की निर्मलता का उपाय बताते हैं।

मैत्रीकरूणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥३३॥

मैत्री, करूणा, प्रसन्नता, उपेक्षा, सुख-दुख, पाप-पुण्य यह सब के सब प्रकृतिजन्य विषय हैं। ऐसी भावना से चित्त निर्मल होता है।

संसार में मनुष्य किसी से प्रेम करता है तो किसी की उपेक्षा (नफरत) करता है। किसी असहाय को तथा दुर्बल को देखकर दया करता है। अनुकूल व्यवहार तथा भोग या दृश्य प्रस्तुत होने पर प्रसन्नता होती है। अनुकूलता-प्रतिकूलता, पाप तथा पुण्य में साधक को सम रहना चाहिये। अब क्रमशः मैत्री आदि के बारे में देखें-

१. मैत्री-मैत्री को दूसरे शब्दों में राग या आसक्ति भी कहते हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन इन्द्रियों एवं इन्द्रियों के भोगों में राग-द्वेष स्थित है जो कल्याण पथ के महान शत्रु हैं। कल्याणकामी को इनके वश में नहीं होना चाहिये।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ (अ. ३/३४)

प्रत्येक साधक का अपना स्वभाव होता है, उसके अनुकूल जो व्यवहार करता है उससे उसका स्वाभाविक ही लगाव हो जाता है। जो जिसे प्रिय है वैसा प्रस्तुत करने वाले से राग होना निश्चित है। ऐसी परिस्थिति में साधक अन्दर से असंग भाव होकर ही आगे बढ़ सकता है। भोगों के प्रति आसक्ति ही राग-द्वेष को जन्म देती है। जो साधक के चित्त में बार-बार विक्षेप उत्पन्न करते हैं। जो साधक के हित में हो वह वाणी कठोर होने पर भी ग्राह्य है। साधना के

आरंभ में अनुराग वैराग्य त्याग इत्यादि से मैत्री अवश्य होती है। भली प्रकार ईष्ट के अनुकूल होने पर सारी जिम्मेदारी ईष्ट की होती है। साधक फिर यंत्रमात्र होता है उसके लिए **''तजिमम चरन सरोज रज, तिनकहु देह न गेह। ममता मम पद कंज''** सृष्टि में यदि कहीं उसकी मैत्री है तो मात्र प्रभु के चरणों में। संसार त्याग से पूर्व जो मित्र थे, परिचित थे उनके सहारे जीवन यापन करते हुए साधन करते रहने की भावना भी एक दोष है, उनका चिन्तन भी चित्त की निर्मलता में एक विघ्न है।

२. करूणा- साधनाकाल में किसी पर करूणा करना साधक को बर्हिमुख करता है। प्राप्ति के पश्चात् यही महापुरूषों का आभूषण है। सीता ने करूणा की तो प्रभु से दूर लंका में निवास करना पड़ा।

३. मुदिता अर्थात् प्रसन्नता-साधक अनुकूल भोगों के प्राप्त होने पर अथवा ईश्वरीय अनुभूतियों के प्राप्त होने पर यदि प्रसन्न होता है अथवा मेरा भजन बहुत अच्छा चल रहा है ईष्ट की अनुकूलता पर्याप्त है। ऐसा चिन्तन भी चित्त में विक्षेप पैदा करता है। साधक केवल अपना कर्तव्य मानकर सम्पूर्ण नियमों का पालन सावधानी से करते हुए चलता है। योग से योग की विभूतियाँ तथा किसी प्रकार की उपलब्धि विलग नहीं है वह जायेगी कहाँ? लक्ष्य से पहले यदि साधक कुछ भी पाने पर प्रसन्न होता है तो चित्त में यह वृत्ति विक्षेप पैदा कर देती है। इसलिए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय भक्त अर्जुन से कहा कि मान में, अपमान में, शत्रु में, मित्र में, अपने पराये में जो सम है वह मुझे परम प्रिय हैं, वह केवल मुझमें ही संतुष्ट रहता है, सदैव मेरा कथन कहता है।-

''कथयन्तश्च मां मित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च''

४. उपेक्षा-साधक के प्रतिकूल कुछ भी आता है या होता है वह उसकी उपेक्षा कर देता है। साधना के प्रतिकूल कुछ भी उपस्थित होने पर उसकी उपेक्षा करनी चाहिये वह भी झिड़ककर या अभिमानवश नहीं,। किसी को डांटकर कह दिया कि तुम्हें पता नहीं साधु को यह सब शोभा नहीं देता या साधु से ऐसे व्यवहार नहीं किया जाता। बहुत से साधु तो वैराग्य के अभिमान वश उल्टे-सीधे पेश आते हैं, लेकिन साधक को हनुमान की तरह ही रहना चाहिये। मैनाक के उपस्थित होते ही इन्होंने उसका स्पर्शकर पुनः प्रणाम करके आगे बढ़ गये। इसी प्रकार साधक को बाहर योग संयोग प्राप्त होने पर अथवा योग की

अनुभूतियां प्राप्त होने पर करना चाहिये तभी चित्त साधना में प्रशांत भाव से अग्रसर रहता है।

५. सुख-दुःख- ''सुखानुशयी रागः, दुखानुशयी द्वेष'' जिन भोगों से अथवा जिस व्यक्ति से साधक को सुख की प्रतीत होती है उससे राग हो जाता है, जिससे दुःख की प्रतीत होती है उससे द्वेष हो जाता है यह दोनो प्रकार की प्रवृत्ति साधना में बाधक है इसलिए श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा-

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेतौ ह्यास्य परिपन्थिनौ।अ. ३/ ३४।

इन्दियों एवं इन्द्रियों के भोगों में राग द्वेष स्थित है। कल्याण का भी साधक को इनके वश में नहीं होना चाहिये।

जब साधक की साधना निर्विघ्न रूप से चलने लगती है तो स्वाभाविक ही उसे सुख होता है, लेकिन इसे भी ईष्ट की देन मानकर इससे उपरत ही रहना चाहिये। कभी-कभी बाह्य भोग पदार्थ भी साधक के मन में सुख का संचार कर देते हैं। इसलिए भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा था कि भिक्षा में सुस्वादिष्ट व्यंजन मिलने पर प्रसन्न होकर देने वाले का धन्यवाद मत करो तथा यह भी मत सोचों की आज भिक्षा बहुत अच्छी मिली है बल्कि अपने लक्ष्य में दृष्टि रखते हुए भिक्षाग्रहण करने वाले सुख-दुख के दोषों से बच जाते हैं। ऐसे साधकों का किसी से राग-द्वेष भी नहीं होता है। ऐसी अवस्था में कोई पदार्थ या उपलब्धि न तो क्षोभ ही पैदा कर सकती है न सुख। साधक का चित्त शान्तिपूर्वक साधना में लगा रहता है।

६. पाप-पुण्य-कभी-कभी देखा जाता है कि साधक के द्वारा किसी का हित हो जाता है, किसी का लाभ हो जाता है, कोई-कोई पुण्यात्मा साधक के सानिध्य से महापुरुष की तरफ अग्रसर होकर भजन में लग जाते हैं। साधक कभी-कभी अर्जुन की तरह अपने पुरुषार्थ का चिन्तन करके साधन संबंधी पुण्य के बारे में सोचने लगता है। ऐसा विचार कि मेरे द्वारा अमुक को यह लाभ हुआ, अमुक का कल्याण हुआ। ऐसा संकल्प भी साधनाकाल में बाधक है। कभी-कभी साधक समाज में फैले पाप-पुण्य की तरफ आकृष्ट होने लगता है। ऐसा विचार भी साधना में बाधक है। साधक के लिए तो सबसे बड़ा पुण्य अपने

लक्ष्य की प्राप्ति में है। मुझसे शुभ पार लग रहा है अथवा अशुभ योग की अच्छी स्थिति में ऐसा विचार भी बाधक है। स्वयं की उपलब्धि का भाव भी इसमें बाधक है उसे तो सतत् लगे रहना चाहिये।

पाप-पुण्य की करै न आशा,सो पहुचै रघुनायक पासा।

उपर्युक्त सभी प्रकार के विचार विषय हैं ऐसा भाव चित्त की निर्मलता में सहायक है। गोस्वामी जी का भी यही कहना है-

शत्रु मित्र सुख दुख जग माही।
मायाकृत परमारथ नाही।।
जनम मरण जँहलगि जग जालू।
सम्पत्ति विपत्ति करम अरू कालू।।
''धरनि धाम धन पुर परिवारु
सरग-नरक जँह लगि व्यवहारू।।''
देखिय सुनिय गुनिय मन माही।
मोह मूल परमारथ नाही।।

इसी क्रम में अगले पांच सूत्रों में चित्त की निर्मलता का उपाय बता रहे हैं।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।। ३४।।

प्राणों का प्रच्छर्दन करके अर्थात् श्वॉस को बाहर निकालकर विशेष रूप से धारण करके जितना अन्दर यथा शक्ति रोक सकें ''स्वरूप या नाम के साथ'' इसलिए विधारणा (विशेष रूप से धारण करना) कह दिया है। ऐसा प्रयास भी चित्त की चंचलता को कम करता है।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी।।३५।।

एक ही विषय वस्तु ''परमात्मा'' में लगने वाली वृत्तिका उत्पन्न होना मन की स्थिति को बांधने वाली होती है। परमात्मा में स्थिर करने वाली वृत्ति को भी यहां सूत्रकार विषयवती वृत्ति की संज्ञा दे रहे हैं अर्थात् यह भी एक विषय है। रामचरित मानस में दोनों को माया कहा गया है। एक संसार में बांधने वाली तथा दूसरी राम माया बंधन खोलने वाली है। यही आशय यहाँ सूत्रकार का है। एक विषय संसार के दुःखों का कारण है, एक विषय मुक्ति का कारण है।

बोल-चाल की भाषा में लोग कहते हैं कि किस विषय में चर्चा हो रही है कहते हैं ईश्वर के विषय में चर्चा हो रही है। परिणाम की प्राप्ति में यही चित्त निर्विषय हो जाता है। एक कांटे के निकल आने पर दूसरे कांटे की उपयोगिता समाप्त हो जाती है। इसलिए सूत्रकार कहते हैं एक ही ध्येय वस्तु में स्थिर करने वाली वृत्ति भी मन को स्थिर करती है।

विशोका वा ज्योतिष्मती॥३६॥

शोक रहित तो मात्र एक परमात्मा है। संसार की श्रेष्ठतम उपलब्धि वियोग के साथ दुख का ही हेतु है। इसलिए शोक रहित परमात्मा के प्रकाश से संयुक्त बुद्धि भी मन को स्थिर करने में सहायक है। बुद्धि जब ईश्वरीय आलोक में प्रवेश पा जाती है। ऐसा आनंद भी मन को स्थिर करता है। लेकिन उस सुख का अनुभव केवल मन ही करता है।

सो सुख जानै मन अरू काना, नहि रसना पर जाहिं बखाना।

भागवत का एक प्रसंग है, साधनाकाल में नारद जी को भगवान ने एक झलक दिखाकर आकाशवाणी दिया कि मेरी प्राप्ति की जिज्ञासा शिथिल न हो इसलिए तुम्हें स्वल्प दर्शन दिया है। अभी तुम्हारे अन्दर मल विक्षेप है इसलिए सा धना करो पूर्णतः मल के अभाव में तुम मेरे पार्षद बनोगे। इस घटना के बाद नारद जी दूने उत्साह से लग गये और एक दिन ईश्वर के पार्षद बनें।

चित्त की निर्मलता का अन्य उपाय बताते हुए कहते हैं-

वीतरागविषयं वा चित्तम्॥३७॥

जो महापुरूष राग-द्वेष से ऊपर उठकर अपने स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं ऐसे महापुरूष के स्वरूप के ध्यान से साधक का चित्त शीघ्र निर्मल होता है।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा अर्जुन न कोई मेरा प्रिय है न कोई अप्रिय। जो मुझे जिस भाव से भजता है मैं भी उसे उसी भाव से भजता हूँ। प्राप्ति के पश्चात् प्रत्येक महापुरूष की यह विशेषता होती है। संत कबीर इसी क्रम में कहते हैं-

कबिरा खड़ा बाजार में, सबकी मांगे खैर।
न काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर॥

साधक पूर्व में हुये ऐसे किसी भी महापुरूष के स्वरूप का ध्यान करें, लेकिन कल्याण वर्तमान महापुरूष से ही संभव है। पूर्व में हुये महापुरूषों के प्रति अटूट श्रद्धा के परिणामस्वरूप पुण्य-पुरूषार्थ के संचित होते ही ऐसे महापुरूष वर्तमान में मिल जाते हैं जिनके ध्यान से चित्त शुद्ध होता है। इसी क्रम में आगे देखें-

स्वप्न निद्राज्ञानालम्बनं वा॥३८॥

निद्रा के समय आने वाले स्वप्न का अवलम्बन करने से योगी का चित्त निर्मल होता है। सृष्टि में जितने भी ईश्वर भाव को प्राप्त महापुरूष हुए हैं ईश्वरीय निर्देशन में चलकर ही ईश्वर को प्राप्त किया है। सैकड़ों निर्देशनों में एक माध्यम यह स्वप्न भी है। ईश्वर भाव में स्थित सद्गुरू के प्राप्त होते ही उनकी टूटी-फूटी सेवा एवं नाम जप से अंग स्फुरण एवं स्वप्न के माध्यम से वह प्रभु अपने भक्त का मार्गदर्शन करने लगते हैं। इसको आगे साधनपाद के अठारवे सूत्र में स्पष्ट करेंगे। सद्गुरू की प्राप्ति एवं निर्दिष्ट नियम के पालन के बाद वह साधक फिर स्वप्न नहीं अपितु अपना भूत भविष्य एवं वर्तमान संस्कारों एवं परिस्थितियों को देखता है, संसार स्वप्न देखता है। लेकिन साधक होनी देखता है। यही सूत्रकार का आशय है कि निद्रा के समय स्वप्न में आये हुए दृश्यों का अवलंबन करके साधक चित्त की निर्मलता को प्राप्त होता है क्योंकि स्वप्न के दृश्य साधक के चित्त की विभिन्न अवस्थाओं को ही इंगित करते हैं। साधना से बाहर वह दृश्य कुछ कहते भी नहीं। दृश्यों का आशय तत्वदर्शी महापुरूष के अतिरिक्त कोई नहीं जान सकता ना ही ऐसे साधना की जाग्रति सम्भव है। साधना के लिए ऐसे अनुभवी सूत्रपात की जाग्रति परमावश्यक है जो तत्वदर्शी महापुरूष द्वारा ही सम्भव है। बिना सद्गुरू के कोई भी प्राणी संसार के दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकता है।

उपर्युक्त अवस्थाओं में से किस साधक को कौन सी अवस्था या सुविधा प्राप्त है उसी माध्यम से वह चित्त का निरोध कर लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। इस पर कहते हैं-

यथाभिमतध्यानाद्वा॥३९॥

उपर्युक्त अवस्थाओं में जो जिसे प्राप्त है। उसके माध्यम से योगी चित्त का निरोध कर सकता है। रुप, रस, शब्दः, स्पर्श एवं ग्रन्ध आदि के माध्यम से

होने वाले विक्षेपों को योग के अनुकूल ढालते हुए, चित्त को एकाग्र करके, ध्यान की अवस्था को प्राप्त करना है। इसी विधि से सभी महापुरुषों ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करके ध्यान समाधि को प्राप्त किया है।

इस सूत्र को पढ़कर मनमानी मनगढ़ंत क्रियाओं को जन्म देकर बुद्धिजीवियों ने समाज में भ्रम पैदा कर दिया है। यही नाना प्रकार की क्रियायें कालान्तर में सम्प्रदाय मजहब कहलायें जो मनुष्य के पतन एवं विद्वेष के कारण हैं। ईश्वर से दूरी पैदा करने वाले हैं। ईश्वर प्राप्ति की निर्धारित विधि एक है। जिससे चित्त का निरोध होकर ईश्वर में विलय के साथ स्थिति मिलती है। यही परम कल्याण है, यही सबसे बड़ा पुरूषार्थ है। मनुष्य विचार ही नहीं करता कि डॉक्टर के पास जाने से यदि रोग बढ़ जाये तो जाने से लाभ ही क्या है? जिस दवा से रोग कम नहीं हुआ उसी दवा को खाने के लिए सलाह देने वाले ने दिया ही क्या?

संसार पहले से ही दुःख के मार्ग पर चल रहा है। भोगों के रास्ते पर चलकर अंत में सब दुख को ही प्राप्त होते हैं। जिसका अंत में परिणाम दुख है। उस मार्ग का समर्थन करने वाला या विभिन्न क्रियाओं द्वारा भोगों की प्राप्ति का संदेश देने वाला क्या समाज का तथा आत्मा का हितैषी हो सकता है। इसलिए आज तक किसी महापुरूष ने संसार के भोगों का समर्थन नहीं किया और संदेश भी नहीं दिया। जिसमें मनुष्य का हित है शाश्वत सुख शान्ति है। ऐसा संदेश प्रत्येक महापुरूष ने दिया है। यही सूत्रकार का भी उद्देश्य है उनका कहना है कि उपर्युक्त योग्यताओं तथा क्षमताओं में जिस साधक को जो प्राप्त है। उसी माध्यम से वह अपने चित्त का निरोध करके ध्यान की अवस्था को प्राप्त करें। यथा अभिमत का यह अर्थ नहीं कि जिसका जहाँ भूत, भवानी, देवी देवताओं में मन करें उसका ध्यान करें। बल्कि क्रम-क्रम से जो चित्त के निरोध का उपाय बताते आये हैं। उसमें से जो भी जिसे उपलब्ध है अथवा जो उचित लगे उसी माध्यम से चित्त का निरोध करें।

यहि विधि भलेहि कुरोग नसाही,
नाहि त कोटि जतन नहि जाही।।

इस क्रम से साधक को कब तक अभ्यास करना है तथा जो साधक

निरंतर अभ्यास के द्वारा चित्त के निरोध का उपाय करेगा उससे लाभ क्या है? इस पर कहते हैं-

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः॥४०॥

परमाणु से लेकर महातत्व अर्थात् परमतत्व परमात्मा तक की वशीकार संज्ञा हो जाती है।

अणु एक अत्यन्त छोटी इकाई का नाम है। इससे छोटा परम् अणु=(परमाणु) ही होता है। परमाणु किसी भी वस्तु का अंतिम भाग, जिसका अब कोई भी भाग किया नहीं जा सकता। इस परमाणु से लेकर महातत्व तक साधक चित्त के सूक्ष्माति सूक्ष्म अवस्था में पहुंच जाता है अर्थात् इन पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। साधक कण-कण तथा अणु-अणु में व्याप्त सत्य की अनुभूति के साथ ईश्वर भाव को प्राप्त होता है।

स्वर्ग नरक अपवर्ग समाना, जंह तंह देख धरे धनुवाना॥

साधना की इस अवस्था में साधक सर्वत्र अपने ईष्ट को देखने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। यही योग की पराकाष्ठा है। तत्क्षण साधक अपने स्वरूप में विलय पा जाता है जो योग का परिणाम है। साधना के आरंभ में-

गो, गोचर जंह लगि मन जाई, सो सब माया जानहु भाई।

लेकिन साधना की उच्च अवस्था में सर्वत्र प्रभु ही दिखाई देते हैं। साधक वीतराग महापुरूष के स्वरूप का तथा उनसे प्राप्त स्वप्न आदि निर्देशन का अवलम्बन करते हुए इस अवस्था को प्राप्त होता है। भगवान श्रीराम भी यही कहते हैं कि-

कर्म, वचन, मन छांडि छल जो कर भूसुर सेव।
मोहि समेत विरंचि, शिव वश ताके सब देव॥

साधना करते-करते जब मन सूक्ष्माति सूक्ष्म बिन्दु पर स्थिर होने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। यही मन की वशीकार अर्थात् विजेतावस्था है। यही भगवान राम का भी कहना है कि तत्वज्ञ महापुरूष, विप्र, द्विज, ब्राह्मण, भूसुर, सद्गुरू, संत, प्रभु (यह सब पर्यायवाची शब्द हैं एक दूसरे के पूरक हैं) के सानिध्य में मन, कर्म, वचन से उनकी तथा उनके स्वरूप की सेवा, ध्यान करते हुए मुझ परमात्मा सहित चराचर जगत को अपने वश में कर लेता है।

अब वशीकार अवस्था को प्राप्त साधक का लक्षण बताते हुए उसकी आंतरिक उपलब्धि का चित्रण करते हैं।

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृहणग्राह्येषु तत्स्थतदंज्जनता समापत्ति॥४१॥

योग के आरंभ में महर्षि पातंजलि ने वृत्तियों के निरोध को योग कहा है। यहां उस विषय को पुनः कहकर समाधि पर्यन्त इसकी आवश्यकता पर बल दिया है। सूत्रकार का कहना है कि वृत्तियों का निरोध करते-करते जब यह भली प्रकार क्षीण (निरोध) हो जाती है। उस समय चित्त (अन्तःकरण) स्फटिक मणि के सदृश निर्मल होकर (गृहीता) मन (ग्राहेषु) जो ग्रहण करने योग परमात्मा है उसे ग्रहण करने के योग्य हो जाता है। यही सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था है।

''निर्मल मन जन सो मोहि पावा,''

'यथा ''सहज विमल मन लाग समाधी।''

योग साधना की परिपक्व अवस्था में अच्छी प्रकार से निर्मल चित्त परमात्मा को धारण करने के योग्य होता है। ऐसी चित्त की अवस्था को सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। अब सम्प्रज्ञाति समाधि की विशेषता पर प्रकाश डालते हुये कहते हैं कि-

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः॥४२॥

उस समय साधक शब्द (अनुभव) से प्राप्त अर्थ (परमात्मा) के विचारों में निमग्न होता है। इसके अतिरिक्त उसके अन्तःकरण में कुछ भी नहीं होता इन्हीं विचारों के बीच रहने वाले मन की अवस्था को सवितर्क समाधि कहा गया है।

शब्दैः ब्रह्म व्यजानात्।

शब्द ही ब्रह्म है।

शब्द-शब्द सब कोई कहे, वह तो शब्द विदेहु।
जिभ्या पर आवै नही, निरख परख कर लेहु॥
शब्दे मारा गिर पड़ा शब्द छुडायो राज।
जिन-जिन शब्द विवेकियां तिनकर सरगो काज॥

ईश्वर प्राप्त सद्गुरू में आस्था तथा उनसे प्रदत्त साधना में प्रवत्ति के साथ यह सृष्टि परमात्मा की निर्देशन स्थली बन जाती है। इन्हीं निर्देशनों को समझते हुए साधक चित्त की सूक्ष्मावस्था को प्राप्त होता है। यही चित्त की संकीर्ण अर्थात् सूक्ष्म अवस्था है। कबीर साहब ने इसी संकीर्ण अवस्था को संकरी गली कहा है। **''प्रेम गली अति साँकरी, तामे दो न समाय''** शब्द जो सीधे ईश्वर से प्रसारित हैं। उसी को पकड़कर साधक ईश्वर पर्यन्त दूरी तय करता है। **''शब्द डोर धर उतरे पार''** शब्द और अर्थ यह मिली हुई चित्त की अवस्था समापत्ति योग है। अभी साधक अलग है ईश्वर अलग है। निर्देशन प्राप्त हो रहे हैं। जब तक अलग हैं तभी तक जानना शेष है। यही ज्ञान रखना है।

विलय के साथ कोई अलग सत्ता शेष ही नहीं है तो कौन किसको जाने कौन किससे कहे? इसी अवस्था का अगले सूत्र में चित्रण करते हैं-

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का॥४३॥

योग की पराकाष्ठा में भली प्रकार स्मृति के शुद्ध होने पर स्वरूप का शून्य सा होना अर्थात् चित्त में शुभाशुभ संकल्पों के अभाव के साथ अर्थ (परमात्मा) मात्र की प्रतीति का नाम निर्वितर्क समाधि है।

केवल परमात्मा ही शेष है। इसी को निर्विचार एवं निर्विकल्प (सृष्टि में जिसका कोई विकल्प नहीं है) समाधि भी कहते हैं। इसी को और आगे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि-

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता॥४४॥

बस इतना ही सविचार अर्थात् मात्र ईश्वर निर्देशन और उसके पालन में सजगता से तत्पर रहते हुए समाधि अवस्था को प्राप्त होना तत्पश्चात् विलय के साथ सम्पूर्ण विचारों के अभाव में निर्विचार अवस्था को प्राप्त होना यह अत्यन्त सूक्ष्म विषय बुद्धिगम्य नहीं है। अपितु सा धन गम्य है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि इसकी व्याख्या अत्यल्प की गई है क्योंकि पर्याप्त जानकारी तो साधक स्वतः चलकर ही प्राप्त करता है। यही साधक की वास्तविक अनुभूति भी है।

इस सूक्ष्म चिन्तन निर्विचार एवं सविचार समाधि की कहाँ तक

आवश्यकता है। इस पर कहते हैं-

सूक्ष्मविषयत्वं चालिग्पर्यवसानम्॥४५॥

चिन्ह रहित जो परमात्मा है, जब तक उसमे विलय न हो जाय तब तक चित्त का यह सूक्ष्म विषय, निर्विचार एवं सविचार अवस्था रहती है।

जितना मन का प्रसार है उतना ही जगत है। साधना के दौर में पड़कर यह मन सिमटकर अत्यंत सूक्ष्म होकर समाधि में प्रवेश करता है। किसी महापुरूष ने इसे चींटी की संज्ञा दी तो किसी ने मच्छर की। एक ही स्थिति को समझाने का अपना-अपना दृष्टिकोण होता है, लेकिन यह अवस्था साधक की कब तक रहती है।इसी को यहां स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आलिंग अर्थात् चिन्ह रहित। लिंग कहते हैं! चिन्ह को स्त्रियोचित चिन्ह पाये जाने पर स्त्रीलिंग, पुरूषोचित चिन्ह पाये जाने पर पुरूषलिंग। यहाँ सूत्रकार कहते हैं कि यह समाधि का सूक्ष्म विषय एवं साधना में मिलने वाले निर्देश तब तक रहते हैं जब तक यह सूक्ष्म मन अलिंग जो नाम रूप रहित है परमात्मा में प्रवेश न पा जाये।

विलय से प्रथम साधक की क्या अवस्था है इसको अगले सूत्र में स्पष्ट करते हुए कहते हैं।

ता एव सबीजः समाधिः॥४६॥

सविचार समाधि में परमात्मा संबंधी तथा उनसे मिलने वाले निर्देशनों पर विचार बना रहता है। यही अवस्था दृढ़ होने पर निर्विचार अर्थात् शुभाशुभ संकल्प से रहित मन शांत अविरल गति से समाधि में प्रवाहित रहता है, लेकिन इसमें अभी चित्त विद्यमान है। इसलिए इन दोनों अवस्थाओं को सबीज समाधि का नाम दिया गया है। सबीज अर्थात् बीज सहित यदि बीज हैं तो उसमें अंकुर अवश्य आयेगा, लेकिन भुने हुए बीज में अंकुर की कोई सम्भावना नही रहती। इसलिए निर्विचार अवस्था दृढ़ होने पर स्वरूपबोध के साथ संसार का कारण यह चित्त भी मिट जाता है। यह चित्त ही बीज है। जिसमें भला-बुरा स्फूरण होता रहता है। इस प्रकरण को अगले सूत्रों में स्पष्ट करेगें।

चित्त की जो सविचार एवं निंविचार अवस्था है, जिसे सबीज समाधि कहते हैं, इस स्थिति में साधक को क्या प्राप्त होता है इस पर कहते हैं-

निर्विचारवेशारद्येऽध्यात्मप्रसादः॥४७॥

निर्विचार अर्थात् चित्त में न शुभ (परमात्मा संबंधी) संकल्प उठ रहे हैं न अशुभ (संसार संबंधी) ऐसी चित्त की अवस्था दीर्घकाल तक बनी रहने से योगी विशारद् हो जाता है। निर्विचार समाधि में विशारद् होते ही वह पूर्ण रूप से आत्मा के आधिपत्य में प्रवेश पा जाता है। यही परमात्मा का, सद्गुरू का वास्तविक प्रसाद है। यह बाह्य प्रसाद तो इस प्रसाद को पाने की प्रेरणा मात्र है। प्रसाद का अर्थ पूर्ण निर्मलता है। पूर्ण निर्मलता के साथ ही योगी अध्यात्म में प्रवेश पा जाता है। शास्त्र का किसी प्रकार अर्थ कह देना अध्यात्म नहीं है। बल्कि निर्विचार में विशारद् होने पर अध्यात्म की प्राप्ति होती है।

निर्विचार में विशारद् होने पर योगी की बुद्धि अवस्था का चित्रण करते हैं।

ऋितम्भरा तत्र प्रज्ञा॥४८॥

ऋत् अर्थात् सत्य जो एकमात्र परमात्मा है उसकी अनुभूति ज्ञान से भरपूर, उस परात्पर ब्रह्म को प्रज्ञा धारण करने योग्य हो जाती है अर्थात् चित्त की वृत्तियों के पूर्ण निरोध काल में प्रकृति के आधिपत्य से निकलकर निर्विचार अवस्था में योगी की प्रज्ञा पुरूष को धारण करने योग्य हो जाती है।

क्या सबके पास ऐसी प्रज्ञा होती है? क्या इसे संसार में देखने सुनने से प्राप्त किया जा सकता है? इस पर कहते हैं।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्॥४९॥

सुनकर और अनुमान लगाकर कुछ कल्पना करके दृश्यों या शब्दों को रचने वाली बुद्धि से इस बुद्धि का विषय अन्य ही है क्योंकि यह विशेष अर्थ (पुरूष विशेष ईश्वरः की स्थिति को धारण करने) वाली है।

मनुष्य ईश्वर के बारे में, संसार के बारे में जिसे वह नहीं जानता सुनता है सुनकर कुछ काल्पनिक दृश्य अनुमान से गढ़ लेता है लेकिन योगी यथार्थ देखता है, सुनता है। भगवत पथ में कल्पना का कोई स्थान नहीं है। लोग अनुमान से देवी-देवता तथा अनेकों प्रकार के सिद्धांत गढ़ते ही रहते हैं। लेकिन योग साधन से प्राप्त बुद्धि बाह्य काल्पनिक बुद्धि से सर्वथा भिन्न है क्योंकि यह विशेष अर्थ वाली है। एक अर्थ तो संसार में दिखाई देता है जिससे कोई कभी तृप्त नहीं हुआ लेकिन जिस अर्थ की योगशास्त्र में चर्चा है वह है

परमात्मा पुरूष विशेष ईश्वर जिसे पाकर आत्मा हमेशा के लिए तृप्त हो जाती है। इस प्रज्ञा की प्राप्ति सद्गुरू प्रदत्त साधन द्वारा ईश्वरीय अनुभूतियों से ओत-प्रोत होकर उनका बोध प्राप्त करते हुए निर्विचार अवस्था को प्राप्त होना है। बाहर संसार में तो ''देखिय सुनिय गुनिय मन माही। मोह मूल परमारथ नाही।।'' (रामचरित मानस) भ्रमवश जो भागता है। उसका मोह ही मूल कारण है, यथार्थ में कुछ है नहीं।

इस प्रज्ञा की अन्य विशेषता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि-

तज्जः संस्करोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी।।५०।।

ईश्वरीय संचार के ज्ञान से भरपूर बुद्धि द्वारा उत्पन्न संस्कार अन्य जो संसार संबंधी संस्कार है। **''भूतभावोद्भवकरोविसर्गः कर्म संगित''** उन पर प्रतिबंध लगाता है अर्थात् संसार संबंधी समस्त संस्कारों का निरोध ऋतम्भरा प्रज्ञा का उद्देश्य है। इसकी उपयोगिता कब तक है। इस पर देखें-

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।।५१।।

संसार संबंधी संस्कारों (संकल्पों) के निरोध के साथ सबका निरोध होने पर निर्बीज समाधि की प्राप्ति होती है।

मन सदैव कुछ न कुछ सोचता है। इस सोचने की प्रक्रिया को संकल्प कहते हैं। यही संकल्प संस्कार का रूप ले लेता है जो अनन्त दुःख रूप योनियों में फेंकते हैं। इन दुखद योनियों के संस्कारों से निवृत्ति ही मानव तन का हेतु है जो योग साधना में प्रवृत्त होकर योग के परिणाम समाधि में इन संस्कारों का मिटना सम्भव है। संसार संबंधी विचार मन को विकृत करते हैं। यदि संसार संबंधी विचार मन का निरोध करते तो सूत्रकार क्यों कहते कि ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों से संसार संबंधी संस्कारों का निरोध कर निर्बीज समाधि प्राप्त करके संसार संबंधी संकल्पों के निरोध से सबका निरोध स्वतः हो जाता है।

लोग योग के नाम पर वेद, वेदान्त, योगासन, भक्ति, तप इत्यादि कुछ न कुछ गढ़ते ही रहते हैं। अनेको प्रकार के तर्को द्वारा कल्पित सिद्धान्तो को सिद्ध करने का प्रयास भी करते हैं। उनका कहना है सभी नदियां अंत में समुद्र में ही गिरती हैं। वैसे ही समाधि आदि के सभी सिद्धांत एवं चर्चा अंत में

परमात्मा में ही शांत होती है। इस प्रकार के अनेकों सिद्धांतों से बुद्धि विकृत ही होती है। योग निरापद एवं सरल मार्ग है, जिसकी शुरूवात श्रद्धापूर्वक वैराग्य के साथ वृत्तियों का निरोध है। साधक नाम जप तथा सद्गुरू स्वरूप के ध्यान एवं सेवा द्वारा सम्पूर्ण वृत्तियों के निरोध तथा निरोध मन का परमात्मा में विलय के साथ निर्बीज समाधि को प्राप्त होता है। यही योग की पराकाष्ठा है। यही योग का परिणाम है। इस अवस्था में योगी अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

योग पथ में प्राप्त दैवी सम्पदा द्वारा आसुरी सम्पदा का पूर्ण अंत तत्पश्चात् उसकी भी आवश्यकता शेष हो जाती है। कांटे के द्वारा कांटा निकल जाने पर उस कांटे की उपयोगिता शेष हो जाती है। नौका पार करने के बाद नौका छूट जाती है।

इति ''समाधिपाद''

श्री परमात्मने नमः

साधन पाद

योग पथ कल्याण स्वरूप महापुरूषों द्वारा सुनिश्चित एक निर्दिष्ट पथ है। इसमें काल्पनिक सिद्धांत मिश्रित होने से मनुष्य भ्रमित होकर कल्याण पथ से भटककर दूर खड़ा हो गया। अपनी भूल की पुष्टिकरण एवं तुष्टिकरण में अनेकों उदाहरण खोज डाले लेकिन अनंत जन्मों में भटकाने वाले कारणों का न पता ही कर सके और न अंत। जब तक संसार चक्र में भटकना जारी है मन को जलाने वाले काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि विकार क्रियाशील हैं तब तक कल्याण कैसा? सुख कैसा? शान्ति कैसी?

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि अर्जुन इस कल्याण पथ में निश्चयात्मक बुद्धि एक है, लेकिन अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओं वाली होती है। वह अनंत क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं उसे शोभायुक्त वाणी में व्यक्त भी करते हैं। अर्जुन जिन-जिन के ऊपर उनकी वाणी की छाप पड़ जाती है वह भी नष्ट हो जाते हैं ना कि कुछ पाते हैं।

यही रामचरित मानस में भी है ''दंभिह निज मति कल्प कर प्रकट कीन्ह वहु पंथ'' विविध सिद्धांतों को जन्म देने वालों को दंभी कहा गया है। भगवान श्रीकृष्ण इन्हीं को अविवेकी कहते हैं। नाना प्रकार की क्रियायें गढ़ने वाले अविवेकी है। यह प्रत्येक महापुरूष का सिद्धांत है। यही विचार साधनपाद के आरंभ में महर्षि पातंजलि व्यक्त कर रहे हैं कि योगपथ में बहुत सी क्रियायें नहीं हैं। इसमें निश्चयात्मक क्रिया एक ही है और वह है-

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः॥१॥

तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर शरणागति ही क्रिया योग है, इसी साधनपाद के तैंतालिसवे, चौवालिसवे एवं पैंतालिसवे सूत्र में इसको स्पष्ट किया जायेगा।

महर्षि पातंजलि स्पष्ट कह रहे हैं कि मन सहित इन्द्रियों को लक्ष्य

(परमात्मा) में बार-बार लगाना तप है। स्वाध्याय, स्वयं के अध्ययन मनन द्वारा अन्तःकरण निर्मल होता है, लेकिन यह दोनों क्रियायें ईश्वर को लक्ष्य बनाकर तथा उसके प्रति पूर्ण समर्पित होकर करने से साधक योग की समस्त विभूतियों से संयुक्त होकर सभी अनिष्टों को सहजता से पार कर लेता है। यह क्रिया योग ईश्वर से जोड़ने वाली है, यही क्रिया योग है। प्रचलित परम्परायें ईश्वर से तोड़ती हैं।

यदि साधक अपने दोषों को दूर करते हुए तप के साथ ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पित होकर लगेगा तो उसका परिणाम क्या है? इस पर कहते हैं-

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च॥२॥

उपर्युक्त क्रिया योग, समाधि की स्थिति दिलाकर अविद्या जनित संस्कारादि क्लेशों को मिटाने वाला है।

संसार में लोग अनेकों प्रकार से दुखी हैं। दुख से छूटने के लिए नाना प्रकार के अनुष्ठान एवं क्रियायें करते ही रहते हैं, लेकिन दुखों से छुटकारा नहीं मिलता। महर्षि पातंजलि कहते हैं दुखों से सर्वथा निवृत्ति समाधि में है जो तप स्वाध्याय तथा किसी देवी-देवता के प्रति नहीं बल्कि ईश्वर के प्रति समर्पित भाव से लगने पर प्राप्त कर सकते हैं। संसार के प्रत्येक दुखी प्राणी के लिए यह अमर संदेश है।

यहां पर एक विशेष बात ध्यान देने योग्य यह है कि समाधि में सम्पूर्ण क्लेशों का अंत है। लेकिन समाज में व्याप्त कल्पित ध्यान समाधि में ऐसा नहीं दिखाई देता है तथा कल्पित समाधि में ऐसा सम्भव भी नहीं है। महर्षि पातंजलि का कहना है योग की पराकाष्ठा में समाधि को प्राप्त योगी सम्पूर्ण क्लेशों से छूट जाता है।

क्लेश के अन्तर्गत क्या-क्या आता है। समाधि की अवस्था में योगी किन-किन क्लेशों से छुटकारा पाता है। इस पर कहते हैं-

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः॥३॥

अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष तथा अभिनिवेष ये मुख्यतः पांच क्लेश है। इनका विस्तार क्रमशः देखें-

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्॥४॥

उपर्युक्त मुख्य पांच क्लेश हैं। योगपथ पर आरूढ साधक के समक्ष इनकी क्या स्थिति रहती है। यह कैसे अपना-अपना कार्य करते हैं। इनका उद्‌गम क्या है, स्पष्ट करते हैं।

अस्मिता, राग-द्वेष तथा अभिनिवेश का उद्‌गम अविद्या है। जब तक अविद्या जनित अज्ञान विद्यमान है तभी तक यह क्लेश विद्यमान रहते हैं। यह सभी क्लेश क्रमशः प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न एवं उदार अवस्था में विद्यमान रहते हैं। जिनके उतार चढ़ाव को योगारूढ़ साधक भली प्रकार समझता है।

१. जो विकार शान्त अवस्था में है। उस विकार की वह प्रसुप्त अवस्था कहलाती है। यह सभी विकार सबके अन्तःकरण में अनादिकाल से विद्यमान हैं। मात्र साधक इनकी कार्यप्रणाली एवं विलय की प्रक्रिया को भली प्रकार समझता है कि कौन विकार कब प्रसुप्त है, कब कार्य कर रहा है, कब नष्ट हो गया। इनकी कार्य प्रणाली जान लेने से साधारण लोगों की अपेक्षा साधक में इनका प्रभाव कम पड़ता है।

२. मनुष्य जितना विषयों का चिन्तन करता है उतना ही उसमें आत्मिक प्रकाश रहता है। जितना आत्मिक प्रकाश रहेगा उतना ही उस विकार में वेग रहेगा। उतने ही वेग से वह साधक के चित्त में प्रभाव पैदा करेगा, लेकिन सद्‌गुरू के प्रति पूर्ण समर्पण होकर सतत् साधना में लगने वाला साधक इनके प्रभाव को कम कर देता है। यह विकारों की क्षीण अवस्था ही तनु कहलाती है।

३. जब चित्त में एक विकार आता है तो दूसरा विकार दब जाता है। चित्त में एक समय में एक ही वृत्ति कार्य करती है। काम वृत्ति के आते ही क्रोध दब जाता है। क्रोध के आते ही काम दब जाता है। कृपणता के आते ही उदारता दब जाती है, राग आते ही द्वेष दब जाता, द्वेष के आते ही राग दब जायेगा। एक वृत्ति के उदय तथा दूसरी वृत्ति के दबने की अवस्था विकार की विच्छिन्न अवस्था है।

४. चित्त में जिस समय जो संस्कार कार्य कर रहा है। वह संस्कार जब अपना परिणाम देने की अवस्था में आता है। संस्कार की यह अवस्था उदार कहलाती है।

अनंत जन्मों के संस्कार मन के अंतराल में पड़े हैं। यह सभी प्रसुप्त

होते हैं। साधनाकाल में यह क्रमशः आते रहते हैं। कुछ छीण संस्कार होते हैं जिनका प्रभाव कम पड़ता है। वह आसानी से कट जाते हैं। कुछ प्रबल संस्कार होते हैं जो चिन्तन से बार-बार साधक को हटाते रहते हैं। ये विच्छिन्न कहलाते हैं और यही संस्कार जब परिणाम देने की अवस्था में होते हैं तो उदार कहलाते हैं। उदार ही तो कुछ देता है। कृपण नहीं देता इसलिए इस अवस्था को महर्षि पातंजलि उदार वृत्ति कहते हैं।

यहां तक सूत्रकार ने बताया कि अनेक जन्मों के संचित संस्कार किस क्रम से कार्य करते है। इन सम्पूर्ण संस्कारों का जो कारण है, वह अविद्या है। इसलिए प्रथम उस अविद्या पर प्रकाश डाल रहे हैं।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु, नित्यशुचिसुखात्म ख्यातिरविद्या॥५॥

अनित्य को नित्य मानना, अपवित्र को पवित्र मानना, दुख को सुख मानना, शरीरादि स्थूल में आत्मभाव होना, यही अनात्मा (असत्य) को आत्मा (सत्य) मानना है। इसी विपरीत वृत्ति को अविद्या कहते हैं।

जहां तक मन की कल्पना है वहां तक अविद्या है, दुख है, लेकिन अज्ञानवश मनुष्य इस नश्वर संसार को शाश्वत समझकर उसी में अनुरक्त हो जाता है। पवित्रता के कृत्रिम उपायों में ही संतुष्ट हो जाना वास्तविकता से मुंह मोड़ना है। **''मल कि जाई मलहि के धोए''** मन में विकारों का सर्वथा अभाव ही वास्तविक पवित्रता है। अगले सूत्रों में इसकों स्पष्ट किया जायेगा।

अनादिकाल से भोगों के क्षेत्र में किसी को सुख नहीं प्राप्त हुआ। चक्रवर्ती नरेशों ने महलों के भोगों में कहीं सुख नहीं पाया। इसलिए सच्चे सुख की खोज में संतों के पास गये, लेकिन अज्ञानवश मनुष्य इन भोगों में ही सुख मानता आ रहा है। अंत में जिसका परिणाम दुख है उसी को सुख मानता है। प्रकृति का नियम है चना से चना पैदा होता है, गन्ना से गन्ना, गेहूं से गेहूं, मनुष्य से मनुष्य, पशु से पशु पैदा होता है। प्रत्येक मनुष्य सुख के लिए कार्य करता है। लेकिन अंत में सबको दुख ही मिलता है। यह जो दुख में सुख वृत्ति है यही अविद्या है। इसी अविद्या के कारण अभिमानी लोग इस शरीर को ही आत्मा (सत्य) मानकर इसकी सुख-सुविधाओं एवं सुरक्षा में राग-द्वेष के वशीभूत हो जाते हैं अर्थात् विपरीत ज्ञान वृत्ति ही अविद्या है।

अविद्या जनित विघ्न कारक मुख्य बिन्दुओं का उल्लेख करके योगपथ में आने वाले मुख्य क्लेशों को क्रमशः अग्रिम सूत्रों में स्पष्ट कर रहे हैं।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता॥६॥

दृक् शक्ति (दृष्टा आत्मा) और दर्शन शक्ति का एकात्म होना अर्थात् मिश्रित होना ही अस्मिता है। आज अस्मिता का अर्थ लोग विभिन्न क्षेत्रों में लेने लगे हैं, लेकिन यह यौगिक शब्द है। इसका उपयोग योगपथ में ही सार्थक है। दृष्टा एवं दृश्य जब तक एक रहेगें तभी तक क्लेश है। जैसे-स्वप्न देखने वाला खूब पिटता है, रोता है, भयभीत होता है, पसीने-पसीने हो जाता है। अत्यधिक भय के कारण किसी-किसी की तो हृदय गति भी रूक जाती है। लेकिन मनुष्य जब जागता है तो वह पूर्ण स्वस्थ रहता है। यह जो स्वप्न की तरह दृष्टा दृश्य में मिश्रित हो जाता है तो क्लेश का कारण बन जाता है। इसके मिश्रित रहने तक ही क्लेश विद्यमान रहते हैं। ज्ञान के साथ दृष्टा का स्वरूप स्पष्ट होते ही क्लेश निवृत्त हो जाते हैं। जैसे जागते ही स्वप्न का कष्ट दूर हो जाता है। अब राग नामक क्लेश को देखें-

सुखानुशयी रागः॥७॥

सुख कारक पदार्थ से तथा सुख देने वाले व्यक्ति से तथा इन्द्रियादि भोग जो सुखकर प्रतीत होते हैं। उनसे राग स्वाभाविक है। सुख के प्रति जो राग भाव है वह क्लेश है अर्थात् इन्द्रियों के अनुकूल भोग प्रस्तुत करने वाले के प्रति राग तथा उन भोगों में जो राग या आसक्ति है वह दुख का कारण है। मनुष्य के अनुकूल जो व्यवहार करता है तथा इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले जो भोग प्रस्तुत करता है। उन भोगों में तथा भोग प्रस्तुत कर्ता के प्रति राग स्वाभाविक है। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि-

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥गीता ३/३४॥

यहाँ सूत्रकार ने बड़ी विलक्षण बात कही है कि सुख में आसक्त होना भी क्लेश है। क्या सुख के लिए प्रयास करना तथा उसमें आसक्त होना अनुचित है। महर्षि का कहना है इन्द्रियादि भोगों में जो सुख की प्रतीति है। वह क्षणिक है उसके प्रति राग करने से अंत में दुखों की प्राप्ति होती है। यह सृष्टि

का नियम है। जिससे आपको सुख होगा उससे आपको दुख भी होगा। पुत्र पैदा होने से सुख होता है उसके वियोग में दुख निश्चित है। जिससे आपको सुख नहीं होगा उससे आपको दुख भी नहीं मिलेगा। मनुष्य का राग ही उसके दुख का कारण है। पड़ोसी से आपका राग नहीं है। उसके दिवंगत होने पर आपको दुख नहीं होता, लेकिन विदेश में कोई रहता है। जिससे आपका राग है उसकी किसी दुखद सूचना को सुनकर आपको क्लेश होगा। परिवार में घटना एक ही घटती है लेकिन राग न्यूनाधिक होने से वैसा ही प्रभाव पड़ता है। दिवंगत आत्मा से जिसका जितना ही अ धिक राग होगा उसे दुख भी उतना ही गहरा होगा। किसी-किसी को दिल का दौरा पड़ जाता है। कोई दिखावटी दुख व्यक्त करता है। इसलिए पातंजलि कहते हैं कि संसार के प्रति राग दुख का कारण है। सुख के प्रति राग स्वाभाविक है, इन्द्रियों के नश्वर सुख को छोड़कर शाश्वत सुख के लिए ईश्वर की तरफ चलते हैं। किसी महापुरूष के सानिध्य में जब साधना की जाग्रति होती है। उसमें कमी होने पर सा धक को दुख होता है, लेकिन साधना की उच्च अवस्था में साधक इस दोष से निवृत्त हो जाता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन इन्द्रियों के भोगों को न ग्रहण करने के कारण इन्द्रियों के भोग निवृत्त हो जाते हैं, लेकिन राग बना रहता है। मेरा दर्शन करके उस भक्त का राग भी निवृत्त हो जाता है। अब द्वेष की उत्पत्ति के बारे में देखें-

दुःखानुशयी द्वेषः॥८॥

जिन पदार्थों से, कृत्यों से, व्यक्तियों से दुख प्राप्त होता है। उसके प्रति द्वेष स्वाभाविक है। योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन यह राग एवं द्वेष इन्द्रियों और इन्द्रियों के भोगों में स्थित है। जहां तक इन्द्रिय भोग हैं, वहां तक दुख विद्यमान है इसलिए कल्याण कामी पुरूष स्वर्गादिक भोगों को भी तुच्छ समझकर सतत् योगाभ्यास में लगे रहते हैं। वैराग्य के साथ सतत् लगने वाले ही इन्द्रियादि दोषों से दूर होते हैं।

इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले व्यवहार एवं भोग प्रस्तुत करने वाले से राग हो जाता है। उनमें व्यवधान डालने वाले तथा प्रतिकूल व्यवहार करने वाले से द्वेष स्वाभाविक है। किसी साधक का सम्मान के प्रति राग है। सम्मान देने वाले से उसका राग स्वभाविक है। सम्मान के प्रतिकूल आचरण करने वाले से

द्वेष स्वाभाविक है। कान को मधुर शब्द प्रिय है। ऐसा संयोग उपस्थित करने वाले के प्रति राग हो जाता है। इसके विपरीत आचरण करने वाले से द्वेष होता है। इसलिए महर्षि पातंजलि की तरह प्रत्येक महापुरूष ने राग द्वेषादि दोषों से जो साधना में विघ्न स्वरूप है, दूर रहने का निर्देश दिया है इन दोषों से दूर रहने वाला साधक लक्ष्य प्राप्ति में सफल होता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा–

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मोनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥१२/१९॥

भगवान श्रीराम ने कहा–

''निन्दा स्तुति उभय सम ममता मम पदकंज''

रागद्वेषादि दोषों से बचने के लिए वैराग्य के साथ सतत् चिन्तन परमावश्यक है। इसके अभाव में साधक राग–द्वेष के वशीभूत होकर श्रेय साधन से च्युत हो जाता है।

अब अभिनिवेश नामक क्लेश के बारे में देखें–

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः॥९॥

स्वरसवाही अर्थात् स्वरूप के रस में बहने वाला (निमग्न) योग की पराकाष्ठा को प्राप्त योगी के अन्दर भी पतन का भय विद्यमान रहता है।

जो स्वरूप प्राप्ति की तरफ अग्रसर योगी है। उनका चिन्तन इतना उच्चस्तर का हो गया है, वह सदैव उस पर आरूढ़ हैं। इस पराकाष्ठा की अवस्था में भी जड़भरत तथा सौमीर ऋषि की तरह अल्प संकल्प से पतन का भय बना रहता है। पूज्य गुरूदेव भगवान कहा करते हैं कि जरा सा भी हम ईश्वर से अलग हैं, बाल के बराबर दूरी भी साधक के लिये हानिकारक है। इतनी सी दूरी में भी माया कामयाब हो जाती है। अभिनिवेश जैसे ''पूँजी निवेश'' निवेश अर्थात् प्रवेश करना अत्यंत सूक्ष्म संकल्प प्रवेश करके, योगी का पतन कर सकते हैं। इसलिए अत्यंत सूक्ष्म अवस्था में भी महर्षि सावधानीपूर्वक साधन करने पर जोर देते हैं।

वैराग्यादि दैवी गुणों की शिथिलता में भोगों में फंसने का भय, इससे उत्पन्न अपकीर्ति का भय विद्वान साधक को भी रहता है। जो प्रारंभिक अवस्था का साधक है, जो गिरता उठता रहता है। उसके सामने इस प्रकार के भय

जनित विचार का प्रश्न ही नहीं है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा, अर्जुन ! अपकीर्ति सम्भावित पुरूष के लिए मरण से भी अधिक बद्तर एवं दुखदायी है।

जड़भरत के सभी संकल्प एवं सभी प्रकार की आसक्ति भजन की पराकाष्ठा में समाप्त हो गई थी। उनका यह अंतिम जन्म था, लेकिन दयावश एक मृगा के प्रति आसक्ति एवं तत्संबंधी एक ही संकल्प कि मेरे शरीर छोड़ने के बाद इस मृग का क्या होगा। मृग के रूप में जन्म लेकर पतन को प्राप्त हुए। इसी प्रकार शरीर छोड़ते समय सौभीर ऋषि के सामने मछलियों का दृश्य उपस्थित होकर पतन का कारण बना। उन्हें मछली के रूप में जन्म लेना पड़ा। इब्राहिम की आसक्ति अपने पुत्र में थी, खुदा की आवाज सुनकर उसने उस आसक्ति को मिटा दिया। आसक्ति के मिटते ही भगवान ने उसे नबी बना दिया। जिनकी जहां आसक्ति थी, उन्हें उसी रूप में जन्म लेना पड़ा उनका पतन हुआ। यही महर्षि पातंजलि का कहना है जो अत्यंत विदुष है। जिनका साधन परिपक्व है। कोई भी बारीक संकल्प उनके पतन का कारण बन सकता है।

यह पतन का भय साधना के अंतिम समय तक विद्यमान रहता है।इस पर बल देते हुए कहते हैं-

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः॥१०॥

वे प्रति प्रसव करने वाले अत्यंत सूक्ष्म संकल्प भी जब तक नष्ट न हो जाय तब तक सावधान रहना चाहिये। प्रसव अर्थात् पैदा करना, उत्पन्न करना। एक संकल्प दूसरे संकल्प को जन्म देता है जैसे शांत तालाब में एक छोटा सा कंकड़ सैकड़ों लहरें पैदा कर देता है। उसी प्रकार एक अत्यंत सूक्ष्म संकल्प भी सैकड़ों संकल्प पैदा कर देता है। शरीर के रूप में प्रसव संकल्पों की देन है। इसलिए इन अत्यंत सूक्ष्म संकल्पों को अत्यन्त चित्त की सूक्ष्म अवस्था में नष्ट करने योग्य है।

जब तक एक भी संकल्प शेष है तब तक पूर्ण सतर्क रहकर साधन करना है। इसके नाश का उपाय बताते हुए कहते हैं-

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः॥११॥

ध्यान की अत्यंत सूक्ष्म अवस्था द्वारा इन क्लेश कारक सूक्ष्म वृत्तियों

(संकल्पों) को नष्ट करना चाहिये।

ध्यान की अवस्था में सम्पूर्ण वृत्तियाँ शान्त रहती हैं। यही शांत वृत्तियां अपने कारण स्वरूप चित्त में विलय हो जाती हैं। यही इनका नष्ट होना है। ध्यान का विस्तृत वर्णन विभूति पाद के दूसरे सूत्र में किया जायेगा। ध्यान वह प्रक्रिया है जो मनुष्य मात्र को सम्पूर्ण क्लेशों से सदैव के लिए छुटकारा दिला देती है। आजकल जो ध्यान की परम्परा है वह मात्र मनोरंजन का साधन है।

राम भजन बिनु, सुनहु खगेशा। मिटहिं न जीवन केर कलेशा।।

भज+न= भजन अर्थात् मन भगे न, ईष्ट के चरणों में स्थिर हो जाय। ऐसी अवस्था आते ही क्लेश क्षीण हो जाते हैं। भजन के परिणामकाल में सर्वथा निर्मूल हो जाते हैं, लेकिन भजन की शुरूवात ईश्वर के नाम जप तथा संत सेवा से हैं। भजन ही ध्यान में परिणित हो जाता है।

सूत्रकार ने अभी बताया कि सम्पूर्ण वृत्तियाँ जो क्लेशकारक हैं। ध्यान द्वारा नष्ट करने योग्य हैं, लेकिन अभी तक यह नहीं बताया कि इनकी उत्पत्ति का कारण क्या है? यह कब तक साधक का पीछा करती है तथा इनका परिणाम क्या है? अगले सूत्रों में इन सबका उल्लेख करते हैं-

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।।१२।।

क्लेश का मूल कारण चित्त तथा उससे निर्मित कर्माशय है जैसे जलाशय जल का भण्डार। इसी प्रकार कर्माशय कर्मों का भण्डार। दृश्य जो दिखाई दे रहा है, दृश्य (वर्तमान) तथा अदृश्य (भविष्य) जो नहीं दिखाई दे रहा है आगे आने वाला समय दोनों में जन्म के साथ ही दुख रूप में प्राप्त होता रहता है।

कर्म से अर्जित संस्कारों का भण्डार देता क्या है? कब तक रहता है? इस पर कहते हैं-

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।।१३।।

सति मूल (चित्त) अर्थात् जड़ के विद्यमान रहने तक कर्म संस्कार बनते रहेंगे और यह जन्म आयु और भोग प्रदान करते रहेगें।

किसी पेड़ के कट जाने पर उसकी जड़ से पुनः तना शाखा पत्तियों का निर्माण हो जाता है। इसी प्रकार सभी संस्कारों के मूल कारण चित्त के विद्यमान

रहने तक कर्म संस्कार बनते रहते हैं। यही रावण के बार-बार सिरों और हाथों का निकलना है। **''मोह दश मौलि तदन्भ्रांत अहंकार''** जब तक मूल चित्त विद्यमान है तब तक जन्म तथा उससे संबंधित भोग मिलते ही रहेंगे। मूल के मिटते ही जन्म आयु और भोग सर्वथा मिट जाते हैं।

एक संकल्प का जितनी देर तक चिन्तन होगा, उतना ही उसमें आत्मिक प्रकाश होगा। उतनी ही उसकी आयु और भोग निर्धारित होते हैं। अधिक समय तक किसी के अहित के बारे में विचार करते रहने से स्वयं के दुख भोग की आयु उतनी होती है। अक्सर जीवन में देखा जाता है कि कोई दुख या सुख थोड़ा आता है और चला जाता है। कोई-कोई लम्बे समय तक रहता है। विचारों का समय जितना लम्बा होगा।उतनी ही आयु निर्धारित होती है, उसे भोगने के लिए। इसलिए महर्षि पातंजलि कहते हैं कि चित्त द्वारा निर्मित संस्कारों के परिणामस्वरूप जन्म, आयु और भोग निर्धारित होते हैं।

ये कर्म संस्कार कितने प्रकार के होते हैं साधक इन्हें कैसे पहचाने इस पर कहते हैं-

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्॥१४॥

वे कर्म संस्कार, प्रसन्नता एवं दुख रूप फल वाले होते हैं। इनका निमित्त पुण्य कर्म एवं पाप कर्म हैं।

व्यवहारिक जीवन में भी अक्सर देखा जाता है कि खुशियों के क्षण में अचानक दुख के क्षण आ जाते हैं। ऐसा पुण्य कर्म एवं पाप कर्म के संस्कारों के कारण होता है। सम्पूर्ण मनुष्यों की एक धारणा है कि ईश्वर ही सुख-दुख का हेतु है, लेकिन यहाँ महर्षि कहते हैं कि ईश्वर नहीं अपितु मनुष्य के कर्म ही सुख-दुख का हेतु है। जीवन में जब पुण्य कर्म का बाहुल्य होता है। वह क्षण सुख का होता है जब पाप कर्म का क्षण आता है तो वह क्षण जीवन में दुख का होता है।

पुण्य एक जग मँह नही दूजा,
मन, क्रम, वचन रामपद पूजा।

इस पुण्य के प्रभाव से मन में प्रसन्नता तथा काम, क्रोध, लोभ जनित संसारी विचार आते ही अच्छे साधक को दुख होता है। मन साधना में निर्विघ्न

प्रभावित रहता है। उस समय साधक का चित्त प्रसन्न होता है। साधना से हटते ही अप्रसन्न हो जाता है। यही दोनों प्रकार के विचार अह्लाद एवं दुख के कारण हैं। उत्तम अवस्था वाले साधक के लिए दोनों प्रकार के विचार दुख रूप हैं। चौदहवे सूत्र में महर्षि पातंजलि ने दो प्रकार के संस्कारों को बताकर उनके परिणामों को बताया।

पुण्य संस्कार सुख एवं पाप संस्कार दुख का हेतु है। इन दोनों प्रकार के संस्कारों का साधक के लिए क्या महत्व है इस पर कहते हैं–

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिन॥१५॥

गुण एवं वृत्तियों में आपसी विरोध के कारण विवेकी पुरूष के लिए परिणाम दुख है, ताप दुख है, संस्कार दुख है।

परिणाम कैसा भी हो भगवत् पथ में साधना की सर्वोच्च अवस्था में चित्त की पूर्ण एकाग्रता के परिणाम पर विचार करना भी बाधक है। इसलिए विवेकी पुरूष के लिए सब दुख रूप ही है। वह न गुणों पर विचार करता है और न दोषों पर बल्कि सतत् साधना में लगा रहता है क्योंकि गुण और दोष देखने वाली भी तो एक वृत्ति है और योगी वृत्तियों के निरोध में सतत् लगा हुआ है। संसार संबंधी श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कर्म जिसका परिणाम सुख प्रतीत होता है लेकिन इसके अंत के साथ दुख निश्चित है, ''सुख सदा रहता नहीं दुख का भी अंत है।'' मनुष्य इन्द्रिय सुखों में लिप्त रहता है लेकिन परिणाम तो दुख ही है। ''पुनि परिणाम विषाद'' इस प्रकार सतत् लगे रहने से योग का परिणाम स्वतः प्राप्त होगा। भगवान श्रीराम का लक्ष्मण को यही संदेश था–

सुनहु तात माया कृत गुण अरू दोष अनेक।
गुणयह उभय न देखिये, देखिये सो अविवेक॥

साधना की उच्च अवस्था में गुण एवं दोषों पर विचार साधक को बहिर्मुख करता है। इसलिए प्रत्येक महापुरूष ने इस दोष का निषेध किया है। किसी अन्य के अथवा अपने गुण दोषों पर विचार भी एक दोष है समाधि प्राप्ति में। इसलिए **''पाप पुण्य की करे न आशा, सो पहुचै रघुनायक पासा''** साधक का एक ही कर्तव्य है अहर्निश चिन्तन।

परिणाम दुख, ताप दुख, एवं संस्कार दुख साधना काल में कोई संस्कार आकर साधक के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करके उसे विचलित कर दे। इसके पहले उसे नष्ट करना साधक का कर्तव्य है क्योंकि जो संस्कार बन चुके हैं उनका परिणाम देना अवश्यम्भावी है।

कोई भी संस्कार वृत्ति के रूप में उभरकर साधक की क्षति कर सकता है। इसलिए किसी संस्कार के आने से पहले उसे नष्ट करने पर बल देते हैं।

हेयं दुःखमनागतम्॥१६॥

जो दुख आया नहीं है, आने वाला है वह नष्ट करने योग्य है। इस दुख की उत्पत्ति का कारण क्या है? कैसे इनका निर्माण होता है? इनके निर्माण में किसका सहयोग है? इसका उल्लेख करते हैं-

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेय हेतुः॥१७॥

दृष्टा (जीवात्मा) एवं दृश्य (प्रकृति) का संयोग होने से दुख की प्राप्ति होती है जैसे-स्वप्न में दृष्टा होता है दृश्य होता है। देखने वाला उस स्वप्न के अंतर्गत आने वाले दुख को प्राप्त होता है। स्वप्न देखने वाला दुखद एवं भयावह दृश्यों को देखकर पसीने-पसीने हो जाता है। जगने पर उसे न सुख होता है न दुख क्योंकि अब स्वप्न देखने वाला अपने को अलग समझता है। दृष्टा भी विद्यमान है एवं दृश्य भी विद्यमान है लेकिन जब तक इनका संयोग नहीं होगा तब तक दुख का हेतु यह दृश्य एवं दृष्टा नहीं बन सकते।

आप रात दिन दृश्य देखते हैं, कहीं भी जाते हैं, रास्तें में हजारों लोग मिलते हैं, हजारों दृश्य आते हैं लेकिन कोई दृश्य या चेहरा याद नहीं रहता क्योंकि उनके साथ दृष्टा का संयोग नहीं हुआ। जिसके साथ दृष्टा का संयोग हो जाता है। वह चेहरा एवं दृश्य वर्षों बाद तक ज्यों का त्यों रहते हैं। दृष्टा का दृश्य के साथ संयोग ही संस्कार का निर्माण करता है। इसीलिए महर्षि ने ध्यान द्वारा इन्हें नष्ट करके दृष्टा को पृथक करने की बात कही है। इसका संयोग अनादि है क्योंकि दृष्टा (पुरूष) दृश्य (प्रकृति) अनादि है। इसलिए इस संयोग का क्रम भी अनादि है।

महर्षि पातंजलि योग के सूक्ष्म पहलू को बताते हुए संयोग के क्रम से उपराम होने की एक सरल विधि बताते हैं। जिससे यह दृश्य दुख नहीं अपितु

शाश्वत सुख का हेतु बन सकते हैं-

प्रकाश क्रिया स्थिति शीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यं॥१८॥

महर्षि का कहना है कि सम्पूर्ण दृश्य पांच महाभूत एवं इन्द्रियों का संघातिक रूप है। योगारूढ़ साधक को यही दृश्य प्रकाश, क्रिया योग की स्थिति, भोग तथा अपवर्ग (मोक्ष) प्रदान करते हैं।

सर्प का विष मारक होता है, लेकिन उसका शोधन करके वैद्य उसे जीवनदायी बना देता है। सर्प के विष से बना इंजेक्शन जीवन बचाता है। इसी प्रकार भजन पथ में आने से पहले संसार के भोग एवं दृश्य दुख एवं अधोगति का हेतु बनते हैं। सद्गुरू जिनके पास भवरोग को मिटाने की प्रक्रिया है, वह विधि मिलते ही फिर यही दृश्य मुक्ति एवं शाश्वत शान्ति का हेतु बन जाते हैं। ''नाथ तुम्हार कुल गुरू जलधि'' यह भव सिन्धु पहले डुबाने वाला था अब गुरू का गुरूत्व प्रदान करता है।

सद्गुरू करोड़ों में एक होता है, ''स महात्मा सु दुर्लभं (गीता) ''उनके द्वारा प्रदत्त साधना में जब साधक लगन एवं श्रृद्धापूर्वक एक परमात्मा में अडिग आस्था के साथ प्रयासरत हो जाता है। तब वह सद्गुरू उस साधक की आत्मा से अभिन्न होकर रथी हो जाते हैं तत्पश्चात् साधक का जैसा स्तर होता है उसी स्तर से उसका मार्गदर्शन करते हुए उसे अपवर्ग (मोक्ष) की स्थिति दिला देते हैं। यहाँ पर उन दृश्यों का एवं सद्गुरू का कार्य एवं उद्देश्य पूर्ण होता है।

त्रिजटा को सद्गुरू श्रीराम ने लंका के भविष्य को दृश्यों के माध्यम से अवगत कराया। भरत को, सीता को तथा कौशल्या आदि माताओं को भी विभिन्न दृश्यों के माध्यम से विभिन्न अवस्थाओं का बोध कराया। ईष्ट प्रदत्त दृश्य पहले साधक के स्वप्न में आते हैं फिर यही दृश्य ध्यान एवं समाधि में आकर साधक की विभिन्न स्थितियों को दर्शाते हैं। सद्गुरू शरण में आने के बाद योगी स्वप्न नहीं अपितु होनी देखता है। स्वप्न एवं ध्यान में आने वाले दृश्य साधक को बताते हैं कि कितना उसके अन्दर ईश्वरीय प्रकाश आया। क्रिया की पकड़ कैसी है, उसकी अवस्था क्या है, योग में उसकी क्या स्थिति है, योग के अनुकूल उसका शील अर्थात् आचरण कैसा है? किस जन्म का कौन सा भोग चल रहा है, कितना नष्ट हो गया, कौन सा भोग आने वाला है? इन

सबका बोध कराते हुए यह दृश्य साधक को मोक्ष तक की दूरी तय कराते हैं। पीछे समाधि पाद में महर्षि ने बताया कि **''स्वप्न, निद्रा, ज्ञानावलम्बन वा''** स्वप्न में आने वाले दृश्यों का अबलम्बन करके साधक चित्त का निरोध करके स्वरूप को प्राप्त हो सकता है।

संसार के सभी महापुरूषों ने इसी क्रम से गुजरते हुए संसार के दुखों से छुटकारा प्राप्त किया है। भगवान महावीर ने दृश्यों के माध्यम से मुक्ति का बोध प्राप्त किया। उन्होंने ध्यान में समुद्र को तैरकर पार किया, एक ताड़ जैसे लम्बे पिशाच को मार डाला। मुक्ति का बोध कराने वाले कई दृश्यों को देखा। भगवान बुद्ध के ग्रह निष्क्रमण के समय उनकी पत्नी को अनेक दृश्य आए। जिससे उनका ग्रह निष्क्रमण एवं बुद्धत्व प्रकट होता था। पांच भिक्षुओं से मिलने का संकल्प आते ही सम्पूर्ण दृश्य सामने आ गया। उसी दृश्य का अनुकरण करते हुए बुद्ध गन्तव्य तक पहुंच गये। भगवान श्रीराम के समय के उनके अनन्य भक्त इसी क्रम में अपना स्पष्ट एवं अकाट्य मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि

साधक सिद्ध विमुक्त उदासी, कवि कोविद कृतज्ञ सन्यासी।
योगी सूर सुतापस ज्ञानी, धर्म निरत पंडित विज्ञानी।।
तरिय न बिनु सेये मम स्वामी। राम नमामि नमामि, नमामि। संसार का कोई भी व्यक्ति बिना अनुभव जाग्रति के संसार के दुखों से पार नहीं जा सकता है। भगवान अपने भक्तों को दृश्यों के माध्यम से विभिन्न घटनाओं एवं योग की अवस्थाओं का बोध कराते हुए मोक्ष तक की दूरी तय कराते हैं।

यह सभी दृश्य पांच महाभूतों एवं इन्द्रियों के संयोग का परिणाम है। आपने जहां-जहां जिस अवस्था में जिसे देखा है वैसा ही आपको वर्षों बाद भी दिखाई देगा। जबकि वर्तमान में उसका रूप वैसा नहीं है। सृष्टि में जितने भी रूप हैं। सब पांच महाभूतों से निर्मित हैं। इसलिए महर्षि ने कहा कि इन दृश्यों को जिस अवस्था में इन्द्रियों ने देखा है वैसा ही संजोया है वैसा ही साधक देखेगा। संसार के किसी कोने में क्या है। उससे संबंधित दृश्य नहीं आयेगें क्योंकि उन्हें इन्द्रियों ने देखा नहीं है। सभी दृश्य पंच भूतों से निर्मित एवं इन्द्रिय गोचर हैं। इसलिए इन सभी दृश्यों को ''भूतेन्द्रियात्मक'' कहा गया है।

कोई भी दृश्य पंच महाभूतों से बाहर नहीं है। साधक के मार्गदर्शन के लिए मुख्यतः चार पांच माध्यमों का उल्लेख शास्त्रों में महापुरूषों की वाणियों में मिलता है। स्थूल सुरा (अंग स्पन्दन), स्वप्न सुरा (स्वप्न में आने वाले दृश्य), सुसुप्ति सुरा (ध्यान में आने वाले दृश्य), सम सुरा (समाधि में आने वाले दृश्य) एवं पांचवा आकाशवाणी इत्यादि। इसी को स्पष्ट करते हुए अगले सूत्र में कहते हैं कि इनका उपयोग कब तक है तथा इनका रूप कैसा है यथा-

विशेषाविशेषलिंगमात्रालिंगानि गुण पर्वाणि।।१९।।

साधना काल में जो ईष्ट (सद्गुरू) द्वारा निर्देशन प्राप्त होते हैं। जिनके माध्यम से योगी प्रकृति को पार करके स्वरूपस्थ होता है अर्थात् दिव्य प्रकाश को प्राप्त होता है। वह कैसे होते हैं? वह विशेष-अविशेष, लिंग अर्थात् चिन्ह युक्त, अलिंग अर्थात् चिन्ह रहित, गुण पर्वाणि अर्थात् प्रकृति के तीनों गुण पर्यन्त इन निर्देशनों की आवश्यकता योगी को रहती है। जब तक प्रकृति के गुण हैं तभी तक आवागमन है। गुणों से उपराम होने पर आवागमन का कारण मिट जाता है तत्पश्चात् योगी को स्वयं के लिए इनका कोई उपयोग नहीं होता। महर्षि का कहना है कि अनुभव कुछ विशेष होते हैं।

जैसे पशु-पक्षी सरीसृप इत्यादि जीव प्रकट रूप में मनुष्यों की भाषा में मनुष्यों से बात नहीं करते, लेकिन साधनाकाल में साधक से सभी बातें करते हैं। इनके माध्यम से योगी को परमात्मा का निर्देशन प्राप्त होता है। महर्षि का कहना है कि अनुभव कुछ विशेष होते हैं। कभी-कभी साधक देखता है कि सर्प का मुंह आदमी जैसा है। स्वयं आकाश में उड़ रहा है। यहां तक कि कण-कण से ईश्वर का संदेश मिलने लगता है। यह विशेष अनुभव है। इसलिए महर्षि इसे विशेष कहते हैं। अविशेष वह है जैसे-अग्नि के बीच में भी नहीं जल रहा है, सर्प का विष नहीं चढ़ रहा है, हिंसक जीवों के मारने पर तथा शस्त्रों से खरोंच नहीं लग रही है, गोली का असर नहीं हो रहा है। अत्यंत ऊँचे पर्वतों से गिरने पर भी चोट नहीं लगती है। अत्यंत संकरे रास्ते से जहाँ से मनुष्य का निकलना सर्वथा असंभव है निकल जाता है। अत्यंत फिसलन वाली जगह में भी आराम से बिना किसी सहारे के चल लेता है। अनादिकाल से हुए योगियों के दर्शन एवं बातें तथा दिव्य लोकों एवं लोक पालों का मिलना यह सब होता है। जो बौद्धिक स्तर से बाह्य जगत में संभव नहीं है। वह सब योगी साधनाकाल में देखता है।

जो नहि देखा, नहि सुना, जो मनहू न समाय।
सो सब अद्भुत देख्यों, वरण कवन विधि जाय॥

यह सब अविशेष के अंतर्गत आने वाले अनुभव हैं। इन्हीं को महर्षि अलिंग अर्थात् जिनका कोई आकार नहीं है। ऐसे अनुभव अलिंग कहलाते हैं। अलिंग अर्थात् अलौकिक आवाज (वाणी) तथा अनुभूतियां जिन्हें अनुभव मात्र किया जा सकता है जो देता है वह जानता है और चलने वाला जानता है। इसलिए संत कबीर ने कहा **''का कही केसे कही को पतिआई''** कागभुसुण्डि कहते हैं **''जो मनहु न समाय''** जो सुनकर मन में विश्वास नहीं हो वह सब कुछ देखा। गुरू भगवान सब कुछ दिखाते हुए भक्त को अपना धाम दे देते हैं। कभी-कभी ईष्ट अपनी व्यापकता का बोध कराने के लिए संसार के किसी भी कोने में घटने वाली घटना को दिखाते हैं। सद्गुरू के सानिध्य में सतत् श्रद्धा के साथ साधनरत साधक में अनुभव जाग्रति की इस विशेष उपलब्धि को संसार के सभी महापुरूषों ने स्वीकार किया है, किसी ने इसे ईश्वर से बात करना बताया तो किसी ने दिव्य शक्ति का सूत्रपात कहा। सद्गुरू प्रदत्त अनुभवों की आवश्यकता तीनों गुणों तक ही रहती है। यह संसार तीनों गुणों का विकार है। जब तक सत, रज, तम में से एक भी गुण विद्यमान हैं। तब तक किसी न किसी योनि में उत्पन्न होना है। इसलिए योगेश्वर श्री कृष्ण निर्देश देते हुए कहते हैं कि अर्जुन तुम निर्धारित क्रिया के द्वारा तीनों गुणों से ऊपर उठ जाओ अर्थात् आवागमन से छुटकारा पा जाओ। यही योग साधन तथा उससे मिलने वाले निर्देशनों का उद्देश्य है।

इन समस्त दृश्यों का जो अनुभव करता है देखता है। उस दृष्टा का स्वरूप क्या है? इस पर कहते हैं-

दृष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः॥२०॥

यद्यपि दृष्टा (आत्मा) सर्वथा निर्विकार एवं परम पवित्र शुद्ध है। सृष्टि में उत्पन्न कुछ भी दृष्टा का स्पर्श नहीं कर सकते। किसी प्रकार की क्षति नहीं कर सकते, तथापि यह बुद्धि वृत्ति के अनुरूप देखता है यह दृष्टा बुद्धि वृत्ति के कारण जिस वृत्ति के साथ रहता है। वैसा ही दिखता है और वैसा ही देखता है।

अनुभव में आने वाले दृश्यों एवं संकेतो का अनुसरण करते हुए दृष्टा

अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। जैसा वह है निर्मल, निर्लेप, निर्दोष पवित्र इसी भाव को प्राप्त हो जाता है। अनुभव में आने वाले दृश्यों का उद्देश्य योगी को उसके स्वरूप तक पहुंचाना है। भोगों में प्रवृत्त करना दृश्यों का उद्देश्य नहीं है। दृष्टा की विद्यमानता में ही दृश्यों का निर्माण होता है। इसके शरीर से अलग होने पर किसी दृश्य को देख ही नहीं सकता। निर्माण का तो प्रश्न ही नहीं है। साधनाकाल में यही दृश्य अमरत्व प्रदान करते हैं।

अनुभव में आने वाले दृश्यों का उपयोग भोगों के लिए है अथवा किसी दूसरे के लिए इस पर कहते हैं-

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा॥२१॥

सभी दृश्य साधक को उसके स्वरूप (आत्मा) में प्रतिष्ठित करने के लिए हैं।

बहुत से साधक साधनाकाल में अनुभव में आने वाले दृश्यों का उपयोग बाहरी जगत में करने लगते हैं। ऐसा करने वाला स्वरूप प्राप्ति से वंचित रहता है। ईष्ट का कभी-कभी बाह्य घटनाओं को दिखाकर अपनी व्यापकता का बोध कराकर साधक के विश्वास को दृढ़ करके उसकी साधना में वृद्धि करना उद्देश्य होता है। लेकिन इसे वास्तविकता मानकर कि मैं जो कुछ देखता हूँ सच हो जाता है। मैंने जिसके बारे में जैसा देखा घटित हो गया। अपना प्रभाव समाज में प्रदर्शित करने की चेष्टा करने लगता है। कभी-कभी कहने भी लगता है कि मैंने यह देखा वह देखा इसके बारे में देखा। उसके बारे में देखा। ऐसा अभिमान या प्रसन्नता साधक के पतन का कारण बन जाती है। इसलिए महर्षि सावधान करते हैं कि प्राप्ति पर्यन्त यह दृश्य केवल साधक के लिए ही होते हैं। प्राप्ति के पश्चात् वह सबके लिए होते हैं। सभी दृश्य साधक के उत्साह, दृढ़ता, विश्वास बढ़ाने के लिए तथा उसकी स्थितियों का बोध कराने के लिए होते हैं।

इन दृश्यों का कार्य कब शेष होता है? क्या स्वयं के लिए उपयोग खत्म होने पर सबके लिए हो जाता है? इस पर कहते हैं-

कृतार्थ प्रति नष्टमप्यनष्ट तदन्य साधारणत्वात्॥२२॥

जो साधक कृतार्थ हो गया कृत कृत्य हो गया अर्थात् स्वरूप में स्थिति

के साथ साधना शेष हो गई है। उस योगी की प्रकृति पुरूषत्व में बदल जाती है। इसलिए पूर्ण कृतार्थता के साथ उसकी प्रकृति नष्ट हो गई अर्थात् स्वरूप में स्थिति के साथ प्रकृति पुरूषत्व में बदल गई लेकिन अन्य साधकों के लिए प्रकृति है। उसी की प्रकृति नष्ट होती है जो स्थिति पाता है। दूसरे के लिए ज्यों का त्यों है।

आदि शंकराचार्य ने इस अवस्था में आकर कहा सृष्टि हुई ही नहीं सभी महापुरूष इस अवस्था से गुजरे हैं।

संसार में सभी कार्य पूर्ण कर लिए जाये। सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि हो जाय इसके बाद भी संसार की निकृष्ट योनियों में भटकना निश्चित है। विविध योनियों में तब तक भटकना पड़ता है। जब तक प्रकृति जन्य तीनों गुण विद्यमान हैं। स्वरूप दर्शन एवं विलय के साथ यह निर्मूल हो जाते हैं। तभी योगी कृत कृत्य हो जाता है।

''छोरन ग्रंथि पाव जो कोई, तव यह जीव कृतारथ होई''
सकल सफल शुभ साधन साजू, राम तुम्हहि अवलोकत आजू।।

साधन शेष होने पर पूर्ण जानकारी के बाद भवानी ने भगवान शिव से कहा–

मैं कृतकृत्य भइउं अब तव प्रसाद विश्वेश।
उपजी राम भगति दृढ़ बीते सकल कलेश।।

विकारों के निर्मूल होते ही योगी कृतार्थ हो जाता है।

कृतकृत्य विभो सब वानर ये। निरखति तव आनन सादर ये।।

किसी भी व्यक्ति को स्वरूप प्राप्ति की तथा कृतार्थ होने की, दुखों से छूटने की आवश्यकता क्यों पड़ी? स्वरूप प्राप्ति का कारण क्या है? इस पर कहते हैं–

स्वस्वामिशक्त्यो स्वरुपपोलब्धि हेतुः संयोगः।।२३।।

अभी साधनपाद के सत्रहवें सूत्र में महर्षि पातंजलि जिसे दुख का कारण बता आये हैं कि **''दृष्टदृश्ययो संयोगो हेय हेतु''** दृष्टा एवं दृश्य का संयोग ही दुख का कारण है। यहां उसी को पुनः बताकर स्वरूप प्राप्ति का कारण बता रहे हैं कि स्व अर्थात् प्रकृति एवं स्वामिशक्त्यों पुरूष का जो संयोग

है यही दुख का कारण है। इसकी निवृत्ति ही स्वरूप प्राप्ति का हेतु है। प्रकृति पर्यन्त दुख है, यदि यह प्रकृति नहीं होती तो सब मुक्त ही रहते भजन करने की योगपथ में चलने की आवश्यकता ही नहीं रहती। योग के आश्रित होकर योगी प्रकृति से पूर्णतया छुटकारा प्राप्त कर अपने स्वरूप को प्राप्त होता है।

जड़ चेतनहिग्रंथि पड़ गई, यद्यपि मृषा छूटत कठिनाई।

अब प्रकृति और पुरूष के संयोग का कारण बताते हैं।

तस्य हेतुरविद्या॥२४॥

अविद्या अर्थात् अज्ञानता के कारण ही मनुष्य मैं मेरेपन की दुर्भेध ग्रन्थि को निर्मित कर लेता है। अविद्या के संबंध में इसी साधन पाद के पांचवे सूत्र में महर्षि ने स्पष्ट किया है। इसलिए यहां पर इतना कहना ही उन्होंने पर्याप्त समझा है। इसी अविद्या को महापुरूषों ने दुर्भेद्य ग्रन्थि कहा है इसी को संसार के भोगों में प्रवृत्त करने वाली तथा उसी में विश्वास दिलाने वाली आसुरी माया कहा है।

मैं तै मोर तौर सब माया। जेहि वश कीन्हे जीव निकाया॥
माया वश्य जीव अभिमानी। ईश वस्य माया गुण खानी॥
व्याप रहेउ संसार में माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ द्वेष पाखंड॥

जब तक ऐसा भाव मन में रहता है तब तक अविद्या कार्य करती है। अविद्या के कारण ही जीव को अनन्त योनियों में भ्रमण करना पड़ता है। इसके निर्मूल होने पर योगी परमगति का अधिकारी हो जाता है यथा–

तद भावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्॥२५॥

अविद्या के अभाव से संयोग का अभाव होने पर योगी को कैवल्य की प्राप्ति होती है।

माया की अनन्त वृत्तियों में आत्मिक प्रकाश रहता है। यही दृष्टा एवं दृश्य का संयोग है। प्रत्येक वृत्ति को ईश्वर भाव में परिवर्तित कर उसे लय करते हुए अन्तिम वृत्ति तथा इन सबका कारण मूल चित्त के विलय के साथ योगी को कैवल्य पद प्राप्त होता है।

चित्त जब संसार का चिंतन करता है तो दृष्टा आत्मा की विद्यमानता

होती है। आत्मा के शरीर से निकलते ही सम्पूर्ण प्रक्रिया निष्प्राण हो जाती है। चित्त जितना ही संसार का चिन्तन करेगा। उसमें दृष्टा का संयोग स्वाभाविक है। चित्त जो चिन्तन करता है वह दृश्य है। उस दृश्य के साथ दृष्टा का संयोग ही दुख का कारण है। संयोग का सर्वथा अभाव होते ही दुख का सर्वथा अभाव हो जाता है। दुख का कारण यह चित्त भी विलय हो जाता है। इसी अवस्था को महर्षि पातंजलि कैवल्य (मोक्ष) कहते हैं।

पुनर्जन्म एवं दुख का कारण दृष्टा एवं दृश्य का संयोग है। संयोग के अभाव में अर्थात् प्रकृति के सर्वथा निर्मूल होने पर योगी कैवल्य को प्राप्त होता है। लेकिन संयोग का अभाव बिना विवेक ज्ञान के असंभव है। बिना विवेक के सत्य, असत्य का निर्णय नहीं होगा। सत्य पर आरूढ़ रहने की क्षमता विवेक ही प्रदान करता है।

मोक्ष एवं दुखों के अभाव का आधार एकमात्र विवेक है। इस पर कहते हैं-

विवेक ख्यातिर विप्लवा हानोपायः॥२६॥

दुख निवृत्ति का उपाय नाश रहित विवेक ज्ञान है।

बार-बार जन्म-मृत्यु एवं दुख को प्राप्त होकर आत्मिक सम्पत्ति को नष्ट करना जीव की सबसे बड़ी हानि है। जन्म-मृत्यु एवं दुखों का कारण संचित संस्कार है। जिनके कारण अशान्ति (विप्लव) रहती है। पूर्ण रूप से विवेक ज्ञान होने से अविप्लव अर्थात् परम शान्ति के साथ इस हानि से सर्वथा छुटकारा मिल जाता है। दुखों के नाश का उपाय विवेक ज्ञान है। जिससे निश्चित एवं निर्दोष स्थिति प्राप्त होती है। विवेक की आवश्यकता कब तक रहती है इस पर देखें-

तस्य सप्तधा प्रान्त भूमिः प्रज्ञा॥२७॥

पूर्ण विवेक ज्ञान के प्राप्त होते ही योगी की प्रज्ञा सातों भूमिकाओं को पार कर जाती है। जब तक सातों भूमिकाओं को योगी पार नहीं कर लेता तब तक विशुद्ध प्रज्ञा नहीं होती इन्हें पार करते ही ''प्रज्ञानं ब्रह्म'' की अवस्था प्राप्त होती है। योगी विवेक के माध्यम से योग की सातों (शुभेक्षा, सुविचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असक्शक्ति, पदार्थ भावना एवं तुर्यगा) को पार कर

तुर्यातीत को प्राप्त हो जाता है। विवेक ज्ञान का शुभारंभ कहाँ से है और कब तक है उससे लाभ क्या है? इस पर कहते हैं-

योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञान दीप्तिराविवेक ख्यातेः॥२८॥

योग के अंगों का (जिनका विस्तृत वर्णन अगले सूत्रों में किया गया है) अनुष्ठान करने से अशुद्धि का नाश होता है (गंगा नहाने से नहीं) तथा ज्ञान के प्रकाश के साथ विवेक का विस्तार होता है। लोग अशुद्धि नाश के लिए नाना प्रकार के उपाय बताते हैं लेकिन महर्षि पातंजलि कहते हैं कि योगपथ में चलने से अशुद्धि का नाश एवं पूर्ण विवेक की प्राप्ति होती है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी कहा है-

न हि ज्ञानेन शदृशं पवित्र मिह विद्यते।
तत् स्वयं योग संसिद्धं कालेनात्मनि विन्दति॥

अब योग के अंगों का विस्तार देखें-

समाध्योऽष्टावङ्गानि॥२९॥

योग के बहुत से अंग हैं लेकिन यहाँ पर मुख्यतः आठ अंगों को लिया गया है। जिनके अन्तर्गत योग के सभी अंग समाहित रहते हैं। १.यम २. नियम ३. आसन ४. प्राणायाम ५. प्रत्याहार ६. धारणा ७. ध्यान एवं ८. समाधि ये योग के आठ मुख्य अंग है।

आठ अंगों में प्रथम यम का विस्तार देखें-

अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥३०॥

किसी महापुरूष ने यम के बारह अंग बताये हैं किसी ने सत्रह किसी ने सात। महर्षि पातंजलि ने विस्तार में न जाकर मुख्य पांच यम बताये हैं जिसके अंतर्गत समस्त यम समाहित हैं। १.अहिंसा २.सत्य ३. अस्तेय ४. ब्रह्मचर्य ५ अपरिग्रह यह यम हैं।

यमों के पालन से योगी को क्या लाभ है? इस पर कहते हैं-

जाति देश काल समयानवच्छिन्नाः सार्व भौमा महाव्रतम्॥३१॥

योगी क्रमशः यमों का पालन करते-करते जाति, देश, काल एवं समय से परे होकर सार्वभौम हो जाता है। यम संबंधी व्रत महाव्रत में परिणित हो जाते हैं अर्थात् परिणाम मिलने पर यमों के पालन की आवश्यकता नहीं रहती है।

महाव्रत की अवस्था यमों की पराकाष्ठा है। योगी यमों के पालन का व्रत लेता है। लोग व्रत को उपवास से जोड़ते हैं। यही यम पालन का व्रत क्रमशः उत्थान होते-होते महाव्रत हो जाते हैं अर्थात् जिससे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है उसकी प्राप्ति हो जाती है। सार्वभौम सत्ता में विलय के साथ वह योगी सार्वभौम हो जाता है।

जाति-एक तो समाज की रचना है, व्यवस्था है। एक योगपथ की शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण क्रमिक योग्यता है। जिससे प्रत्येक साधक क्रमशः गुजरते हुए योग की पराकाष्ठा में सबसे उपराम हो जाता है। ऐसा महापुरूष जाति-भेद, देश-भेद, काल-भेद अर्थात् जन्म-मरण के भय से उपराम एवं समय सीमा से परे हो जाता है। पहले भजन चिन्तन की समय सीमा थी अब यम के परिणाम के साथ शेष हो गई।

प्रत्येक महापुरूष ने इस अवस्था को प्राप्त किया है तभी तो महर्षि पातंजलि के लाखों वर्ष बाद भी इस अवस्था के प्राप्त होते ही आदि शंकराचार्य जी ने कहा-

न मे मृत्यु शंका न में जाति भेदः।

पुरूष किसी जाति विशेष किसी देश विशेष का नहीं होता जैसे ईश्वर सार्वभौम सत्ता है उसी के गुणधर्म धारण करके वह इन सभी संकुचित सीमाओं से परे हो जाता है। अब योग के दूसरे अंग नियम के बारे में देखें-

शौच संतोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः॥३२॥

१. शौच अर्थात् पवित्रता २. संतोष ३. तप ४. स्वाध्याय ५. ईश्वर प्रणिधान अर्थात् ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण ही नियम है। यम की तरह नियम को भी बहुत से योगियों ने तीन, पांच सात, बारह, सत्रह एवं पच्चीस की संख्या में बतलाया है। अधिक विस्तार न करके महर्षि पातंजलि ने इन्हें भी मुख्यतः पांच ही बताया है जिनका क्रमशः अगले सूत्रों में विस्तार किया है।

जब योगी योगपथ में चलता है तो उसके यम, नियम, आसानादि के पालन में विघ्न आते हैं। उन विघ्नों से साधक कैसे अपना बचाव करें क्योंकि युद्ध में जाने से पहले उसके दाँव पेंच समझना आवश्यक है। इसी दृष्टिकोण से महर्षि पहले योग में आने वाले विघ्नों को, दोषों को तथा उससे बचने के उपाय को स्पष्ट करते हैं। इस पर देखें-

वितर्क वाधने प्रतिपक्ष भावनम्॥३३॥

योगपथ में सर्वप्रथम नाना प्रकार के तर्क-तुकर्त बाधा के रूप में उपस्थित होते हैं। यह तर्क-तुकर्त मन की एकाग्रता में बाधक हैं। यहाँ तक की अच्छी अवस्था के बारे में सोंचना, किसी व्यक्ति या संत के गुण एवं दोषों का चिंतन भी तर्क ही कहलाता है। ऐसा तर्क भी एकाग्रता में बाधक है। इसलिए महर्षि ने वितर्क (विशेष तर्क) कहकर उनसे सावधान रहने को कहा है।

यदि तर्क-वितर्क बाधा के रूप में उपस्थित हों तो उनके प्रतिपक्षी विचारों का चिन्तन करके इस विघ्न को दूर करके मन की एकाग्रता का अभ्यास करें। मन की एकाग्रता में सहायक विचार एवं भावना प्रतिपक्षी विचार कहलाते हैं।

वितर्क एवं प्रतिपक्षी भावना के मुख्य बिन्दुओं को उदाहरण के रूप में अगले सूत्र में देखें-

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानान्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्॥३४॥

हिंसा आदि वितर्क जो लोभ, मोह एवं क्रोध से प्रेरित होती है जो स्वयं के द्वारा होते हैं। दूसरे से करवाते हैं अथवा स्वयं न करके दूसरों से न करवाकर मात्र उस कृत्य के लिए अनुमोदन कर देते हैं। अनुमोदन करना भी एक दोष है। इन समस्त कृत्यों में चिन्तन का जैसा स्तर होगा वैसा ही उनके कार्य करने की गति होगी। मृदु, साधारण, मध्यम और अधिक तीव्र गति। जिस चिन्तन में जितना वेग होगा उस कार्य में उतना ही वेग होगा। लेकिन इन समस्त विचारों का इनसे प्रेरित कार्यों का परिणाम दुख है, इनकी उत्पत्ति अज्ञान से होती है इसलिए यह अज्ञान रूप है तथा अनन्त जन्मों तक भोगने में आने वाले हैं। यही प्रतिपक्षी भावना है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता के छठवें अध्याय में अर्जुन को बताया कि जो मनुष्य अपने द्वारा अपनी आत्मा का उद्धार अर्थात् विविध योनियों में जाने से बचने का उपाय नहीं करता। वह अपनी आत्मा को अधोगति में ले जानेवाला आत्मा का हत्यारा है। वह हिंसक है। जिन कारणों से आत्मा की हत्या होती है उनमें से मुख्य काम, क्रोध, लोभ हैं। मोह अज्ञान का प्रतीक है। इन तीनों से

प्रेरित होकर मनुष्य पाप का आचरण करता है, दूसरों से करवाता है और इसका समर्थन भी करता है। अज्ञानवश (मोहवश) ही मनुष्य भोगों में आसक्त होता है उनकी प्राप्ति की कामना करता है। कामना की पूर्ति में लोभ होता है। **''जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई''** कामना पूर्ति में विघ्न पैदा होने से क्रोध आता है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशन मात्मनः।
काम क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत॥१६/२/२२

प्रत्येक महापुरूष ने इन विकारों से (जो कल्याण पथ के महान शत्रु हैं) छूटने का संदेश दिया है रामायण में भी इसे स्पष्ट रूप से कहा गया है-

काम क्रोध लोभादि सब, नाथ नरक के पंथ।
सब परिहर रघुवीर पद भजहु भजहि जेहि संत॥

कोई कितना भी विद्वान क्यों न हो जब तक यह विकार है तब तक अनन्त जन्मों तक विविध नारकीय योनियों में जन्म लेकर दुख भोगना है। इसलिए इनके परिणामों पर विचार करके मनुष्य को अपने कल्याण का आचरण करना चाहिये। बार-बार परिणाम को स्मरण करना चाहिये तभी साधक यम नियमों का पालन कर सकता है। अन्यथा प्रकृति में भटकता रहेगा।

महर्षि पातंजलि ने यम-नियम बताकर उसके पालन में आने वाली रूकावटों पर तथा निवारण पर प्रकाश डाला क्योंकि किसी मशीनरी को पकडने से पहले खोलने एवं बंद करने की जानकारी आवश्यक है नहीं तो अपनी ही क्षति हो सकती है। इसी दृष्टिकोंण से सूत्रकार ने पहले यम-नियम में आने वाले विघ्न तथा उसका निदान बताकर अब यम के बारे में विस्तृत जानकारी देकर उनसे प्राप्त होने वाले लाभ को स्पष्ट करते हैं।

यम के पांच भाग बताये गये हैं जिनमें १. अहिंसा २. सत्य ३. अस्तेय ४. ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह?

१. प्रथम अहिंसा को देखें-

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ बैरः त्यागः।३५।

अहिंसा में भली प्रकार स्थित होने पर योगी के पास बैर भाव का त्याग हो जाता है।

अहिंसा-हिंसा और अहिंसा को लेकर मानव जाति के बीच बहुत बड़ा भ्रम फैला हुआ है। अहिंसा शब्द को लेकर एक अलग से नया समुदाय ही निर्मित हो गया है। यह जमीन के अन्दर का कुछ भी नहीं खाते, शाम के बाद भोजन नहीं करते, क्योंकि जमीन में कीड़े होते हैं जिससे उनकी हत्या होती है हम तो अहिंसक है। इसलिए ऐसा नहीं करते लेकिन अनेक रसायनों से निर्मित औषधियों का सेवन करते हैं। हल्दी एवं अदरक जो जमीन के अन्दर पैदा होती है सेवन करते हैं, मीठा जिसमें सभी जानवरों की हड्डिडयों का पाउडर (फास्फोरस) पड़ा होता है तथा गन्ने में हजारों सूड़ियां पिसकर उसके रस में सूड़ियों का अर्क मिल जाता है। व्रत, उपवास में तथा नित्य उसका सेवन करेंगे क्योंकि अहिंसा के पथ में चलने वाले हैं। ब्याज में पैसा देना दोष है व्यापार में अधिक मुनाफा लेना दोष नहीं है। किसी को कष्ट देना हिंसा है, लेकिन जन्म लेकर माँ को बार-बार प्रसव पीड़ा देना अहिंसा है। यदि हम बार-बार गर्भ में जाते हैं जन्म लेकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं, दूसरे को मारना हिंसा है क्या स्वयं को बार-बार मृत्यु के गाल में फेंकना अहिंसा है? बार-बार जन्म एवं मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं, जन्म-मृत्यु की परिधि में रहने का कारण स्वयं के विचार एवं उनसे निर्मित संस्कार हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि अपनी आत्मा का उद्धार न करके उसे अधोगति में ले जाने वाला आत्मा का हत्यारा है, प्रत्येक व्यक्ति अपनी मृत्यु एवं जन्म का स्वयं जिम्मेदार है, यदि योगपथ पर चलकर जन्म-मृत्यु के कारण चित्त सहित समस्त संस्कारों को मिटा दिया जाय तो किसी के द्वारा माँ को प्रसव पीड़ा नहीं होगी, ना ही स्वयं के द्वारा अपनी हत्या होगी। अपनी हत्या करो या दूसरे की हिंसा है। अपने को पीड़ा पहुंचाओं या दूसरे को हिंसा है। यदि हमारे जन्म मृत्यु के कारण यह संस्कार मिट जाते तो हमारे द्वारा कभी किसी मां को पीड़ा नहीं सहन करनी पड़ती। आत्मा शरीर के रूप में जन्म लेता है। फिर यह शरीर नष्ट होता है और हत्या किसे कहते हैं, **''जन्मत मरत दुसह दुख होई''** कोई भी किसी की हत्या करता है तो शरीर को ही तो नष्ट करता है आत्मा को तो कोई भी शक्ति नष्ट नहीं कर सकती। आत्मा तो दूसरा शरीर धारण कर लेती है। चाहे स्वयं अथवा दूसरों के शरीरों को नष्ट करने का माध्यम बनों बात एक ही है। इसलिए जो अपनी आत्मा को अनन्त योनियों में जाने से बचा लेता है वह शुद्ध अहिंसक है अहिंसा के मार्ग में चलने

वाला है।

इसी अहिंसा पर भगवान महावीर ने भी बल दिया। शरीर छोंड़ने के समय एक परम भक्त अव्यक्त ने भगवान महावीर से प्रश्न किया कि श्रमणों को अहिंसक किस प्रकार माना जाय। भगवान महावीर ने समाधान करते हुए कहा कि कोई व्यक्ति जीव का घातक होने से हिंसक नहीं है और न किसी जीव की हिंसा न करने से अहिंसक है। यह मानना भी तर्क संगत नहीं है कि थोड़े जीव हों तो हिंसा नहीं होगी और अधिक जीव होंगे तो हिंसा होती है। हिंसक और अहिंसक की सही पहचान यह है कि जीव की हत्या न करने पर भी दुष्ट भाव होने के कारण हिंसक कहलाता है और जीव का घातक होने पर भी व्यक्ति शुद्ध भावों के कारण अहिंसक कहलाता है। इसके विपरीत जिसका जीवन असंयमी है वह हिंसक है, संयमी किसी का हनन करे या न करे वह हिंसक नही कहलाता क्योंकि हिंसा और अहिंसा का आधार आत्मा का अध्यवसाय है क्रिया नहीं, वस्तुतः अशुभ परिणाम का नाम ही हिंसा है वह अशुद्ध परिणाम बाह्य जीवन के घात की अपेक्षा रखता भी है और नहीं भी, जो जीव हिंसा अशुभ परिणाम जन्य है अथवा अशुभ परिणाम का जनक है वह जीव वध हिंसा ही है, जो जीव वध अशुभ परिणाम का जनक नहीं है वह हिंसा की कोटि में नहीं आता जैसे शब्दादि विषयों से वीतराग को राग उत्पन्न नहीं होता क्योंकि वह शुद्ध भाव में होते हैं। वैसे ही संयमी द्वारा जीव वध हिंसा नहीं है क्योंकि उसका मन शुद्ध है, ठीक यही बात हिंसा और अहिंसा के बारे में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भगवान महावीर से ढाई हजार वर्ष पहले कही थी कि अर्जुन! स्वरूप में स्थित महापुरूष जिसका अंतः करण पूर्ण रूप से शुद्ध है वह महापुरूष तीनों लोकों को मारकर भी पाप से नहीं बंधता जो अपनी आत्मा को अधोगति में जाने से नहीं बचाता वह हिंसक आत्म हत्यारा है। भगवान महावीर ने कौन सी अलग बात कह दी।

भगवान महावीर ने भी यही बात कही। अलग से कुछ भी किसी महापुरूष ने नहीं कहा। बीच वाले अल्पज्ञता वश काल्पनिक सिद्धांत गढ़कर अलग समुदाय का निर्माण करते रहते हैं और जन्म जन्मान्तरों तक भटकते रहते हैं।

वैदिक ऋषियों ने भी भगवान महावीर से पहले हिंसा-अहिंसा का

विश्लेषण किया है यथा–

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति, ये के चात्यहनो जनाः॥

अपनी आत्मा की हत्या करने वाले वे हिंसक असुरों के लोक में जाते हैं जो घोर अन्धकार से आवृत है अर्थात् आत्मा का उद्धार न करने वालों को घोर नरक की प्राप्ति होती है।

यही बात महर्षि पातंजलि ने योगदर्शन के इस सूत्र में कही है कि अहिंसा में भली प्रकार स्थित योगी के पास बैर भाव का त्याग हो जाता है। काम, क्रोध एवं लोभ ही शत्रुओं को जन्म देते हैं इनके मिटते ही शत्रुओं का अभाव हो जाता है, स्वरूप प्राप्ति की तरफ अग्रसर साधक एक दिन समस्त विकारों पर विजय प्राप्त करके स्वरूप प्राप्ति के साथ बैर भाव से सर्वथा रहित होकर अहिंसा में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसी अवस्था वाले को धर्म शास्त्रों में अजात शत्रु भी नाम दियाा गया है।

भगवान श्रीराम ने तो यहां तक कह दिया कि **''सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कँह न कतहु रिपु ताके''॥**

जब कोई शत्रु शेष ही नहीं है, जो किसी प्रकार ही हानि कर सके तो बैर किससे होगा इसलिए इस अवस्था में वह निबैर होता है। प्राणी मात्र में उसका किसी से कोई बैर नहीं होता है। वह सबका होता है सब उसके होते हैं।

पूज्य परमहंस महाराज जी से एक अधिकारी ने पूछा कि महाराज जी आपके खिलाफ एक शिकायत आई है आपका कोई शत्रु है क्या? पूज्य श्री ने कहा इस धरती में मेरा कोई शत्रु नहीं है। बाद में उस अधिकारी ने शिकायतकर्ता को बहुत फटकारा और कभी झूठी शिकायत करने पर दण्डित करने को कहा। अहिंसा की इस अवस्था को प्राप्त महापुरूषों को अजात शत्रु भी कहा जाता है। गुरू नानक देव जी ने अकाल पुरूष, निबैर, अजूनी, संभव आदि नामों से सम्बोधित किया है। संसार में असंख्य शाकाहारी जीव है, जो कभी किसी की हिंसा नहीं करते हैं फिर भी इनके शत्रु इन्हें देखते ही मारकर खा जाते है, यदि बाहर की हिंसा, अहिंसा होती तो इन सबको तथा महापुरुषों को भी सुरक्षित रहना चाहिये था।

अपने स्वरूप की प्राप्ति ही शुद्ध अहिंसा है इस पथ पर चलने वाला एवं चलाने वाला शुद्ध अहिंसक है। भौतिक क्षेत्र में मरना, मारना तो आपसी बदले मात्र हैं।

अब यम के दूसरे सूत्र सत्य के बारे में देखें यथा-

सत्य प्रतिष्ठायां क्रिया फलाश्रयत्वम्॥३६॥

सत्य में भली प्रकार प्रतिष्ठित महापुरुष क्रिया के फल का आश्रय बन जाता है। कोई कुछ भी कह देता है, कहता है मैं सत्य कह रहा हूँ लेकिन कभी कोई सत्य नही कह पाया क्योंकि सत्य (परमात्मा) कहने में नहीं आता वह अनुभव गम्य है।

जब शरीर ही सत्य नहीं है तो इससे जुड़े संबंध, मकान, पद, प्रतिष्ठा कैसे सच होगी। पुराने नक्शे में कुछ और होता है, नये नक्शे में कुछ और होता है। जो हर क्षण परिवर्तनशील है वह सत्य नहीं, सत्य तो अपरिवर्तनशील है। अज्ञान वश लोग परम्पराओं को सत्य मानकर विधिवत पालन करते हैं। ज्ञान चक्षु प्राप्त होते ही यह परम्परायें भी एक जाल दिखने लगती है। आज जिन वस्तुओं को, सम्पति को मनुष्य अपना कहता है कल वह किसकी थी और कल किसकी रहेगी। भारत में उसी समय कुछ और टाइम है, अमेरिका में कुछ और, विभिन्न देशों में कुछ और। यहां चन्द्रग्रहण दिखाई दे रहा है कहीं नहीं दिखाई दे रहा है जो आज है कल नहीं यहां कुछ और है अन्यत्र कुछ और वह सत्य नहीं होता। परिवर्तनशील कभी सच नहीं होता, सत्य तो अपरिवर्तनशील सर्वत्र एक रस व्यापक सत्ता परमात्मा है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण परम्परावादी अर्जुन को सत्य के बारे में बताते हुए कहते हैं कि-

नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः॥अ./२/१६

अर्जुन असत् का अस्तित्व नहीं है उसे नष्ट होने से रोका नहीं जा सकता है और सत्य का तीनों कालों में अभाव नहीं है उसे मिटाया नहीं जा सकता है। इन दोनों का अन्तर तत्वदर्शी महापुरूषों ने देखा है। किसी भाषा विद या समृद्धशाली अत्यन्त तर्कशील ने नहीं देखा। सत्य केवल तत्वदर्शी

स्वरूपस्थ महापुरूष के क्षेत्र की अनुभूति है यह प्रत्यक्ष दर्शन है जो सत्य है। सनातन है एक रस व्यापक सत्ता है वह-

अच्छेद्योऽयमदाहयोऽयम क्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुर चलोऽयं सनातनः॥अ/२/२४

शाश्वत है सनातन सर्व व्यापक है, जिसे शस्त्र छेदन नहीं कर सकता, अग्नि जला नहीं सकता, जल इसे गीला नहीं कर सकता, आकाश इसे अपने में समाहित नहीं कर सकता, ऐसा सत्य क्या संसार के संकीर्ण सिद्धांतों एवं परम्पराओं में कहीं मिल सकता है? कदापि नहीं। सत्य है एक मात्र परमात्मा उसे प्राप्त योगी उसमें भली प्रकार स्थित होकर पीछे वाले साधकों के क्रियाफल के एकमात्र आश्रय बन जाते हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी यही कहा है

ब्रह्मणों हि प्रतिष्ठाहमामृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यै कान्तिकस्य च॥ अ.१४/२६

क्रिया भी बहुत सी नहीं है अनेकों क्रियाओं का निर्माण अविवेकियों की देन है योगपथ में निश्चित क्रिया एक ही है जो मन का पूर्ण निरोध करके परमात्मा में विलय दिलाती है, इस निर्धारित क्रिया को महर्षि ने साधनपाद के प्रथम सूत्र में स्पष्ट कर दिया है। इस क्रिया की जाग्रति एवं इसका परिणाम स्वरूपस्थ महापुरूष से है। ऐसे महापुरूष को लक्ष्य करके आदि शंकराचार्य ने कहा-

''मोक्ष मूलं गुरूः कृपा''

मोक्ष गुरू कृपा का परिणाम है। पूज्य परमहंस महाराज जी एवं परमाराध्य गुरूदेव भगवान इसी अवस्था को प्राप्त योगी है। अपनी गूढ़वाणी में किसी साधक के द्वारा विचरण का हठ करने पर अक्सर कहा करते हैं कि-

''पानी-पाथर में सिर पटकने से धरती
कंडले से का मिली योग भोग सब मै दइहौं''

संयमपूर्वक श्रद्धा से नियमित सुमिरन और सेवा करो, तो स्वरूपस्थ महापुरूष से सब कुछ मिल जायेगा। विश्व के किसी कोने में उत्पन्न होने वाले इस अवस्था को प्राप्त महापुरूषों में एक जैसी क्षमता पाई जाती है। ऐसे महापुरूष साधना के नाम पर समाज में भ्रम नहीं डालते।

अब यम के तीसरे सूत्र अस्तेय के बारे में उल्लेख करते हैं-

अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्॥३७॥

अस्तेय अर्थात् चोरी के अभाव में भली प्रकार स्थित हो जाने पर योगी को सभी रत्न अर्थात् ईश्वरीय विभूतियों के साथ सर्वश्रेष्ठ रत्न परमात्मा प्राप्त हो जाता है।

विद्वानों के मत से चोरी का अभाव होने पर जमीन के अन्दर या बाहर के सभी रत्न प्रकट हो जाते हैं, जबकि ऐसा प्रयोग में पाया नहीं जाता, सर्वथा चोरी छोड़कर इस सूत्र को यदि अपने जीवन में कोई प्रयोग करे तो ऐसा सम्भव नहीं है। यदि ऐसा सम्भव होता तो आज धनवान बनने में जो पापड़ बेलने पड़ते हैं, अनैतिक कार्य करने पड़ते हैं, मात्र चोरी का स्वभाव छोड़कर पृथ्वी के अन्दर छिपे सभी रत्नों के भण्डार प्राप्त करके दुनिया का सबसे अमीर आदमी बना जा सकता है। दुनिया का सबसे धनी मनुष्य बनने का यह कितना आसान तरीका है कि बिना परिश्रम के छल छद्म के मात्र चोरी का स्वभाव छोड़कर पृथ्वी में, समुद्र में कहीं भी छिपे हुए धन को देखकर प्राप्त कर सकता है क्योंकि सूत्र कहता है कि इस क्षमता के आते ही सभी रत्न उसके सामने प्रकट हो जाते हैं लेकिन सूत्रकार का यह उद्देश्य कदापि नहीं है। यह योगशास्त्र है, संसार के श्रेष्ठतम् भोग एवं धन छोड़कर चक्रवती नरेशों ने योगपथ में चलकर योग के परिणाम में स्वरूप को प्राप्त हुए। जिन चक्रवर्ती नरेशों ने अपार सम्पदा महलों में छोड़ी भला योगपथ की कठिन तपस्या के द्वारा कौन जमीन या समुद्र के भीतर धन प्राप्त करने के लिए महलों का सुख एवं वैभव छोड़कर, स्वजन संबंधियों को रूलायेगा, भूख प्यास सर्दी-गर्मी सहन करेगा। वैभव सम्मान में सुख होता तो महलों को क्यों छोड़ते। संसार में किसी भी गृहस्थ अथवा योगी में ऐसी क्षमता नहीं पाई जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि सभी चोर है तभी तो छिपा हुआ धन दिखाई नहीं देता, लेकिन ऐसा कदापि नहीं है। यह योगपथ है, मन सहित इन्द्रियों को समेटकर योग की कसौटी से गुजरते हुए परमात्मा रूपी श्रेष्ठतम रत्न को प्राप्त कर सदैव के लिए कृतार्थ हो जाता है। मीरा ने जब इस अमोल रत्न को प्राप्त किया तो बताया **''पायो जी मैंने राम रतन धन पायो।''** (भव सिन्धु) समुद्र मंथन के समय मुख्य चौदह रत्न निकले अंतिम रत्न अमृत अर्थात् अविनाशी परमात्मा के प्राप्त होते ही

मंथन शेष हो गया।

योगपथ में छिपकर (अपने को छिपाकर) भजन का विधान है जितने भी अच्छे महापुरूष हुए हैं। इसी क्रम से चलकर स्थिति प्राप्त की है। समस्त महापुरूषों की जीवनी में इस रहनी का उल्लेख है। पागल, गूंगे, बहरे, पिशाच की भांति रहकर पूर्ण सचेतनता के साथ सफलता पाई है।

जड़भरत, ऋषभ, दत्रात्रेय, सूपा भगत, सूतीक्षण इत्यादि की तरह रहनी बनाकर ही सफलता सम्भव है, **''किये कुवेष साधु सन्मानू। जिमि जग जामवन्त हनुमानू।।''** साधुता की सुरक्षा के लिए चोरी छिपकर कुवेष बनाना ही पड़ता है। यही चोरी है, यह चोरी कब तक है जब तक लक्ष्य विदित न हो जाये। राम रतन धन की प्राप्ति न हो जाय। तदुपरान्त **''धरे मनोहर मनुज शरीरा, अंगदादि हनुमत सब वीरा''** अंगद, हनुमान, जामवंत इत्यादि सभी मनोहारी मानव तनधारी थे, केवल साधुता की रक्षा के लिए कुवेष (चोरी) किये थे। लक्ष्य विदित होने पर किससे क्या चुराये इसकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती फिर तो **''सवहि सरल सब सन छल हीना। मम भरोस हिय हरष न दीना''**

भजन काल में यदि किसी ने पहचान ही लिया कि ये अच्छे महात्मा हैं तो लोग भजन करने ही नहीं देगे, इसलिए महापुरूषों ने एक रास्ता अपनाया अपने को छिपाकर रखने का, राम रतन धन के मिलते ही चोरी का भी अभाव हो जाता है।

अब यम के चौथे सूत्र यम के बारे में देखें-

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः॥३८॥

महर्षि का कहना है कि ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए उसमें भली प्रकार प्रतिष्ठत योगी को जो सर्व सामर्थ्यवान परमात्मा है उसका लाभ होता है।

योगपथ पर बालक, वृद्ध, युवा, स्त्री, नपुंसक सबको चलने का अधिकार है। इस पर सभी महापुरूष एकमत हैं, विद्वानों ने ब्रह्मचर्य व्रत को केवल जनेन्द्रिय संयम से ही जोड़ने का प्रयास किया है लेकिन भाष्यकार का यह उद्देश्य कदापि नहीं है। यदि ऐसा मान लिया जाय तो बालक, वृद्ध एवं नपुंसक कौन से ब्रह्मचर्य का पालन करेगें? ध्रुव, प्रहलाद इत्यादि बालकों ने

बचपन से ही योग साधना आरंभ कर दी। भगवान बुद्ध के एक श्रेष्ठ शिष्य कश्यप पचहत्तर वर्ष की आयु में दीक्षा लेकर अरिहंत हुए। यदि मात्र जननेन्द्रिय संयम ही मानना ब्रह्मचर्य का पालन भाष्यकार का उद्देश्य होता तो बालक, वृद्ध एवं नपुंसक को सामर्थ्यवान होना चाहिये। जबकि महर्षि स्वयं कह रहे हैं कि ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला सामर्थ्य लाभ करता है। बालक वृद्ध एवं नपुंसक में कौन सा सामर्थ्य दिखाई देता है, लेकिन जिस ब्रह्मचर्य की बात शास्त्रकार कह रहे हैं उस पर चलने से सबको परम सामर्थ्य की प्राप्ति होती है। वैदिक ऋषियों का सूत्र है, **''सत्यं वद् धर्मचर।''**

सत्य बोलो और धर्म पर चलो। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, ब्रह्म के पथ पर चलना ही ब्रह्मचर्य है। जिसमें सम्पूर्ण इन्द्रियों के संयम के साथ उस पर चलने का विधान है। इन्द्रियों के भोगों से संबंधित एक भी संकल्प ब्रह्मचर्य व्रत को नष्ट करता है। इसलिए संकल्प निरोध के साथ सम्पूर्ण इन्द्रियों के भोगों का सर्वथा निरोध सम्भव है, तभी सर्व सामर्थ्यवान परमात्मा की प्राप्ति संभव है। जननेन्द्रिय संयम से शरीर की शक्ति सुरक्षित रहती है। जो रोगों से लड़ने तथा भजन में सहायता करती है। शरीर स्वस्थ है तो मन भजन में लगेगा। इन्द्रियों एवं मन को समेटकर योगपथ में चलने का विधान है। बिना इस विधि के कोई सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। योगपथ में भली प्रकार आरूढ़ योगी का सकलेन्द्रिय संयम स्वतः ही हो जाता है, उसे तो एक ही कर्तव्य का निर्वाह करना पड़ता है कि मन में ईश्वर के अतिरिक्त कोई स्फुरण न उठे। तभी सर्व सामर्थ्यवान की प्राप्ति सम्भव है।

अब यम के अंतिम सूत्र अपरिग्रह के संबंध में देखें-

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः॥३९॥

अपरिग्रह अर्थात् संग्रह के अभाव का अभ्यास करते-करते उसमें स्थिरता आ जाय, भली प्रकार दृढ़ता के साथ चित्त के स्थिर हो जाने पर पूर्व जन्म कैसे हुए थे, योगी को इसका भली प्रकार बोध प्राप्त हो जाता है।

विद्वानों के मत से बाह्य वस्तुओं के संग्रह का अभाव होने पर पूर्व जन्मों का ज्ञान हो जाता है। इस परिभाषा के अन्तर्गत वे भिखारी भी आते हैं जिनके पास संग्रह के नाम पर मात्र उदर होता है, कभी-कभी पेट भरने के

लिए भी नहीं मिलता। पशु-पक्षियों के पास कौन सा संग्रह होता है, लेकिन संग्रह के अभाव के बाद भी इन्हें पूर्व जन्मों का ज्ञान नहीं होता है, पूर्व जन्मों के ज्ञान का यह कितना सुगम उपाय है। विद्वानों के लिए संग्रह का त्याग करके अपने पूर्व जन्मों को एवं भविष्य को जानने का इससे सुगम उपाय और क्या हो सकता है? लेकिन ऐसा कदापि सम्भव नहीं है, आखिर सूत्रकार कहना क्या चाहते हैं? यह योग शास्त्र है, जो क्रियात्मक है। अनुभवी सद्गुरू के माध्यम से जिसकी जाग्रति है, बड़े-बड़े शिक्षाविदों द्वारा इसे जानना कदापि सम्भव नहीं है।

संसार का प्रत्येक व्यक्ति सदैव विचारों का संग्रह करता रहता है, यही विचार संस्कार (विपाक) कहलाते हैं। विभूति पाद के अठारहवें सूत्र एवं साधनपाद के तेरहवें सूत्र में भी इसका उल्लेख किया गया है। यह मन विषयों का चिन्तन करके तत्संबंधी संस्कारों का संग्रह करता है, योगपथ में निरंतर संसार की नश्वरता के बोध के साथ ईश्वर चिन्तन द्वारा संसार संबंधी सम्पूर्ण संस्कारों का पूर्ण रूप से अभाव हो जाने पर योगी को अपने सभी पूर्व जन्मों का ज्ञान हो जाता है। संस्कारों के पूर्ण अभाव का नाम ही अपरिग्रह है, ऐसी स्थिति में मन कभी संसार संबंधी चिन्तन करता ही नहीं उसमें संसार संबंधी स्फुरण होता ही नहीं ऐसे योगी की दृष्टि परम पवित्र होती है। वह कहीं से भी दूषित नहीं ग्रहण कर सकता है। ऐसी अवस्था में वह भली प्रकार अपरिग्रह में दृढ़तापूर्वक स्थित रहता है। इस अवस्था के योगी को अपने सभी पूर्व भव स्पष्ट हो जाते हैं। इस अवस्था को प्राप्त सभी महापुरूषों ने अपने पूर्व जन्मों का उल्लेख किया है।

यहाँ तक सूत्रकार ने यमों के बारे में बताया है। अब आगे नियमों के बारे में देखें-

सर्वप्रथम शौच अर्थात् पवित्रता के गुणधर्म के बारे में देखें-

शौचात् स्वाग्जुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥४०॥

शौच अर्थात् पवित्रता के प्रभाव से योगी को अपने अंगों से वैराग्य तथा दूसरे के संसर्ग में न बैठने की इच्छा दृढ़ होती है।

हमारा शरीर गंदा है, शरीर के प्रति ऐसा भाव आसक्ति को स्पष्ट

करता है। शरीर के प्रति आसक्ति है तभी तो इसकी सफाई पर ध्यान देते हैं। रात-दिन परिवार में एक साथ सब रहते हैं, एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। सूत्रकार कहते हैं कि दूसरे के पास न बैठने की इच्छा तथा अपने शरीर से वैराग्य हो जाता है। विद्वानों ने सोंचा स्नान करके यदि दूसरे के सम्पर्क में आयेगा तो फिर अपवित्र हो जायेगा। इसलिए दूसरे के सम्पर्क में न आने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है लेकिन ऐसा कदापि नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति बाहर खड़ा है इसलिए वह धर्मशास्त्रों तथा महापुरूषों की वाणी को भी बाहरी जगत में घटाकर (ढालकर) देखता है। इससे आगे उसकी सोच नहीं हो सकती, यह योगदर्शन है। इस पथ में प्रत्येक साधक की आन्तरिक उन्नति होती है जिसे चलकर ही जाना जा सकता है, प्राप्त किया जा सकता है।

हमारे अन्तःकरण को अपवित्र करने वाले मानसिक संकल्प जनित विकार है, जो पांचों ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के माध्यम से अन्तःकरण को अपवित्र करते रहते हैं इन संकल्पों एवं विकारों के रहते अन्तःकरण का पवित्र होना सर्वथा असम्भव है। बिना अन्तःकरण की पवित्रता के स्वरूप प्राप्ति दुर्लभ है, इसलिए सूत्रकार कहते हैं कि दूसरे के सम्पर्क में न रहते हुए अर्थात् संगदोष से अलग रहकर अपनी प्रत्येक वृत्ति का निरोध करके पवित्रता प्राप्त होती है। संगदोष के आते ही या किसी संकल्प के आते ही अन्तःकरण पुनः अपवित्र हो जायेगा। अपने शरीर के प्रति आसक्ति भी पूर्ण पवित्रता में बाधक है। शरीर की सुख सुविधाओं को लेकर राग-द्वेष की उत्पत्ति होती रहती है। पूर्ण पवित्रता के लिए संसार तथा संसार के भोगों से वैराग्य तो साधक कर लेता है, लेकिन शरीर के प्रति आसक्ति बनी रहती है। पूर्ण पवित्रता के लिए शरीर से भी वैराग्य तथा संगदोष से रहित होकर योग के परिणाम में योगी को फिर योग के आठों अंगों से भी वैराग्य हो जाता है। इसी को पर वैराग्य कहते हैं।

आन्तरिक पवित्रता से ईश्वर दर्शन सम्भव है, इस आन्तरिक पवित्रता की तरफ अग्रसर योगी बाह्य आचार विचार, रहन-सहन, खान-पान पर विशेष ध्यान देता ही नहीं, भजन की मस्ती में इन सबका कोई महत्व ही नहीं रह जाता है। पूज्य परमहंस महाराज जी कहा करते थे कि भजन की मस्ती में एक क्षण कल्प के बराबर बीतता है। उस समय हमें लगता था यदि स्नान करेंगे

तो प्रभू से लव टूट जायेगी। इस अवस्था में महीनों स्नान न करने के बाद भी भगवान प्रत्येक क्षण बात करते थे। गोस्वामी जी बाह्य शुद्धि की तरफ इंगित करते हुए कहते हैं कि-

चौ.- मल कि जाहि मलहि के धोये, कोउ घृत पाव कि वारि विलोए।

शरीर भी एक मल है, इसके ऊपर धूल मिट्टी जो लग जाती है वह भी एक मल है। इसकी सफाई जिससे करते हैं वह भी एक मल है।

गंगा जमुना खूब नहाया, गया न मन का मैल।
आठ पहर घूमत ही बीते, जस कोल्हू का बैल।।

अन्तःकरण की पवित्रता का अभ्यास करते-करते योगी जब पवित्रता की पराकाष्ठा को प्राप्त होता है, उस समय उसके और क्या लक्षण होते हैं तथा उसकी क्षमता कैसी होती है, इस पर कहते हैं-

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।।४१।।

आन्तरिक पवित्रता का अभ्यास करते-करते शुद्ध सतोगुण जिसमें लेशमात्र भी किसी गुण की मिलावट नहीं रहती, यह पवित्रता की पराकाष्ठा है, पवित्रता की पराकाष्ठा को प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम इन्द्रियों पर पूर्ण विजय, तत्पश्चात् चित्त की पूर्ण एकाग्रता संभव है, इन्द्रिय विजय के साथ चित्त की पूर्ण एकाग्रता में योगी आत्मदर्शन अर्थात् स्वरूप प्राप्ति के योग्य होता है।

पवित्रता की इस पराकाष्ठा में ईष्ट की पूर्ण अनुकूलता रहती है इसलिए योगी के मन में सहज ही प्रसन्नता का भाव रहता है।

शुद्ध सत्व समता विज्ञाना, कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना।।

अब नियम के दूसरे सूत्र संतोष के बारे में देखें।

संतोषदनुत्तमसुख लाभः।।४२।।

जिससे उत्तम संसार में कुछ भी नहीं है संतोष के आने पर उस अनुत्तम लाभ को योगी प्राप्त होता है। जो प्रसन्नता का स्रोत है। सम+तोष जो सम है जिससे उत्तम इस संसार में कुछ भी नहीं है। उस परमात्मा की प्राप्ति के साथ योगी अक्षय सुख को प्राप्त होता है। साधना के आरंभ में साधक-

यदृच्छा लाभ संतुष्टो, द्वन्द्वातीतो विमत्सरः

प्रत्येक परिस्थिति में (संतुष्टो येन केन चित्त) संतुष्ट रहते हुए उसे

ईश्वर की देन मानकर अपने चित्त को निर्विकार रखते हुए इस अभ्यास के परिणामस्वरूप वह अपने स्वरूप को प्राप्त करता है। जिससे उत्तम सृष्टि में कुछ भी नहीं है। यह भक्ति का आठवां अंग है। **''आठों यथा लाभ संतोषा, सपेनहु नहि देखंहि पर दोषा''**॥

इस नियम के क्रम में अब तीसरे सूत्र तप को देखें-

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः॥४३॥

तप के अभ्यास से अशुद्धि (अर्थात् मलावरण रूप में पड़े अनन्त जन्मों के संस्कारों का नष्ट होना) का अभाव होते-होते परिणाम काल में पूर्णतः अशुद्धि के नाश के साथ योगी को काया अर्थात् शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

महर्षि पातंजलि एक महान योगी थे ऐसे योगी की दृष्टि छुद्र उपलब्धियों की तरफ नहीं होती, इसलिए उन्होंने साधनकाल में प्राप्त होने वाली सम्पूर्ण सिद्धियों को विघ्न बताया है। योग पथ में एक बाधा है, तो क्या बाधा उपस्थित होने के लिए कोई राज वैभव को छोड़कर इतना कष्ट उठाकर अपने शरीर को पीड़ा पहुंचायेगा? कदापि नहीं, सूत्रकार एक महान संत है। संतों की अपनी भाषा होती है।

सधुक्कड़ी भाषा में कहते हैं दाल सिद्ध हो गई, चावल सिद्ध हो गया, सब्जी सिद्ध हो गई अर्थात् यह पूर्णरूप से पक चुके हैं। अब इन्हें पकाने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार तप करते-करते अपने मन को बार-बार लक्ष्य परमात्मा में लगाते हुए अपने सम्पूर्ण संस्कारों को जो जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि, सुख-दुख के हेतु हैं। जिस दिन पूर्णतया नष्ट करने में सफल हो जाता है। इन्द्रियों के भोग एवं संस्कार तप के अभ्यास में बार-बार विघ्न उपस्थित करते हैं। इसलिए बार-बार अपने चित्त को लक्ष्य में लगाते हुए योगी तप की पराकाष्ठा में शरीर एवं इन्द्रियों को सिद्ध कर लेता है अर्थात् काया सिद्ध हो गई अब शरीर नहीं धारण करना है, क्योंकि शरीरों का कारण संस्कार मिट गया, ऐसे योगी की इन्द्रियाँ पुनः भोगों को नहीं ग्रहण करती क्योंकि सिद्ध हो गई। ऐसे महापुरूष कुछ करते धरते दिखाई देते हैं। वह मात्र ईश्वरीय निर्देशन में उनकी इन्द्रियां अपने अर्थों में वरत रही है। तप की पराकाष्ठा को प्राप्त योगी के कर्म अशुक्ल एवं अकृष्ण होते हैं। जिसे अगले

पाद के सूत्र में देखें।

तप का रूप जैसा बाह्य प्रचलन में दिखाई देता है शास्त्र सम्मत नहीं है। शास्त्र विधि से तप न करने वालों की कौन सी स्थिति होती है। इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण के विचार देखें-

अशास्त्रविहितं घोरं तत्यन्ते ये तपो जनाः।
दंभाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥अ.१७/५
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्रामचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥१७/६

महापुरूषों की जो मूलवाणी है वही प्रमाणित शास्त्र है, गीता स्वयं में एक शास्त्र है यह योगेश्वर श्रीकृष्ण का अमर संदेश है, उन्हीं के शब्दों में ! अर्जुन ! शास्त्र विधि से रहित होकर बहुत से लोग घोर तप तपते हैं, उल्टे आग में तथा पेड़ में लटकते हैं, पानी में डूबे रहते हैं, कांटों पर सोते हैं, भालों की नोक पर सोते हैं, आग में तपते हैं, कड़ाके की ठण्ड में घंटों पानी में घुसे रहते हैं, खड़े ही रहते हैं, अन्न पानी सब छोड़ देते हैं, इस प्रकार वह घोर तप तपते हैं, लेकिन उनका तप दंभ, अहंकार, काम तथा राग द्वेषाद्विदोषों से युक्त होता है, अर्जुन ऐसा तप करने वाले कुछ पाते नहीं है बल्कि वह अपने शरीर को तथा अन्तःकरण में स्थित मुझ परमात्मा को तथा सम्पूर्ण भूत समुदाय को कृष करने वाले उन तपस्वियों को तू असुर जान। हमने तो इतना घोर तप किया कि भगवान से कुछ मिलेगा हम उनके भक्त कहलाएगें भगवान इस तप से संतुष्ट होकर हमारे अनुकूल होगें, लेकिन भगवान कह रहे हैं कि अर्जुन वह मेरे भक्त नहीं वह मुझे कमजोर करने वाले असुर हैं।

आप ही विचार करें योगेश्वर श्रीकृष्ण ने क्या अनुचित कहा। लोग दस बीस वर्ष खड़े रह सकते हैं तपस्या के नाम पर लेकिन कस्तूरी मृग आजीवन खड़ा रहता है। वह पेड़ के सहारे खड़े होकर सो लेता है, कंगारू कभी पानी नही पीता है, मिट्टी में पाये जाने वाला केचुआ केवल एक आहार मिट्टी का ही करता है, जलीय जीव सदैव बर्फीले पानी में ही रहते हैं, क्रौंच पंक्षी का जोड़ा फूटने पर आजीवन विधुर या विधवा रह लेते हैं। इन सबके वावजूद इन्हें कोई तपस्वी नहीं कहता है। महापुरूषों का मात्र इतना कहना है

कि अपने मन सहित इन्द्रियों को लक्ष्य (परमात्मा) के अनुरुप तपाना तप है यही शास्त्र विधि है। इस विधि से तप करने वाला अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। भगवान के विरह में सब कुछ स्वाभाविक हो जाता है। दिखावे के लिए कुछ करना नहीं पड़ता है।

अब नियम के ही क्रम में चौथे सूत्र स्वाध्याय के बारे में देखें यथा-

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः॥४४॥

स्वाध्याय से ईष्ट देवता की प्राप्ति हो जाती है, इसी को सम्प्रज्ञात योग भी कहते हैं।

विद्वानों ने शास्त्र अध्ययन को ही स्वाध्याय माना है तथा भिन्न-भिन्न ईष्टों की मान्यता को स्वीकार करके बहुदेववाद का समर्थन करके मानसिकता को संकुचित बनाकर एक दूसरे की निन्दा करने का द्वार खोल दिया है।

योगपथ में शिक्षित-अशिक्षित, गरीब-अमीर, कुलीन-अकुलीन, काले-गोरे, स्त्री-पुरूष, युवा, बालक, वृद्ध सबको चलने का अधिकार है। यदि शास्त्रों को पढ़ने से मार्ग मिलता तो सब एक ही दिशा की तरफ अग्रसर रहते, सभी धर्मशास्त्र एक परमात्मा की प्राप्ति का संदेश देते हैं, आत्मा और परमात्मा की प्राप्ति का संदेश देते हैं। आत्मा और परमात्मा के मिलन का नाम ही योग है, लेकिन विद्वानों द्वारा शास्त्रों को पढ़कर विभिन्न मतवादों का ही निर्माण हुआ है। यह मतवाद मनुष्य एवं उसके विचारों में दूरी पैदा करने वाले हैं। योगपथ में सबको समान अधिकार है। एक अशिक्षित शास्त्र का अध्ययन कैसे कर सकता है और शास्त्र को पढ़ने मात्र से कोई ईष्ट को कैसे प्राप्त कर सकता है।?

महर्षि पातंजलि तथा सभी महापुरूषों का एक ही उद्देश्य है कि मनुष्य समस्त दुखों से छूटकर अक्षय सुख शान्ति प्राप्त करे इसी दृष्टिकोण से उन्होंने शास्त्रों की रचना की लेकिन बुद्धिजीवियों ने धर्मशास्त्रों को अपने-अपने दृष्टिकोंण से ग्रहण किया है समाज में अनेकों सम्प्रदाय इसके प्रमाण हैं।

शास्त्रों को पढ़कर यदि ईष्ट की प्राप्ति होती तो बहुदेववाद को पृथक-पृथक ईष्ट के रूप में मान्यता नहीं मिलती। ईष्ट वही है जो अनिष्ट से बचा ले, सम्पूर्ण मानव का ईष्ट एक परमात्मा है। ब्रह्मा तथा उससे निर्मित सृष्टि

देव-दानव, असुर-मनुष्य, पशु-पक्षी त्रियक योनियाँ सब मरण धर्मा हैं परिवर्तनशील हैं क्षण भंगुर हैं।

आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥अ ८/१६॥

जब जन्म-मरण, दुख, व्याधि आदि क्लेश पीछे लगे हुए हैं तो इससे बड़ा अनिष्ट और क्या होगा। ईष्ट (कल्याण) की प्राप्ति के लिए हृदय का निर्मल होना अत्यंत आवश्यक है। हृदय की निर्मलता में ही (परमात्मा) ईष्ट की प्राप्ति है। जिससे संसार में समस्त दुखों एवं जन्म-मृत्यु आदि क्लेशों से सर्वथा छुटकारा मिल जाता है। हृदय की निर्मलता के लिए स्वयं का अध्ययन करना अत्यावश्यक है। साधक अपना अध्ययन करता है कि मेरे अन्दर श्रृद्धा, निष्ठा, वैराग्य, विवेकादि दैवी गुणों में शिथिलता तो नहीं है यदि है तो उसे दूर करें तथा मेरे अन्दर कौन सा संकल्प या विकार कार्य कर रहा है उसे दूर करें-

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न पाया कोय।
जो दिल देखा आपना मुझ सा बुरा न कोय॥

ऐसा करते-करते हृदय को निर्विकार बनाकर ईष्ट की प्राप्ति करें। योगपथ में बहुत से अनपढ़ योगियों ने इस स्वाध्याय के द्वारा ईष्ट (परमात्मा) की प्राप्ति करके अपने समय के सर्वोपरि विद्वान एवं पथ प्रदर्शक बनें। ईष्ट को अगले सूत्र में सूत्रकार स्वयं स्पष्ट कर रहे हैं।

नियम के इसी क्रम में अंतिम सूत्र ईश्वर प्राणिधान के परिणाम को देखें-

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्॥४५॥

ईश्वर के प्रति समर्पित होकर योग साधना में प्रवत्त साधक समाधि रूपी सिद्धि को प्राप्त होता है, यही योग का परिणाम है।

श्रद्धालु भक्तों एवं विद्वानों की एक भावना होती है कि कुछ भी करो भगवान को अर्पित कर दो, तो उसका फल अच्छा हो जाता है, लेकिन सूत्रकार का कहना है कि बहुत से कर्म नहीं बल्कि निश्चयात्मक ''क्रिया योग'' तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर का बोध कराने वाला **''तस्य वाचक प्रणवः''** का जप करते हुए उसी ईश्वर को लक्ष्य बनाकर तथा उसी को समर्पित करके अर्थात्

कर्तापन के अहंकार से रहित होकर जो इस योग क्रिया में अनवरत संलग्न रहता है, उसे शीघ्र समाधि की प्राप्ति होती है। ऐसा नहीं कि संसार में कुछ भी करो उसे ईश्वर का कार्य मानकर उसे समर्पित करके करो तो कल्याण हो जायेगा। यह तो मनुष्य की भावना मात्र है, यदि ऐसा सम्भव होता तो सभी समाधि को प्राप्त हो जाते। सूत्रकार कहते हैं कि **''क्लेशकर्म विपाकाश्या प्रभृष्ट पुरूष विशेषः ईश्वरः''** स्वरूपस्थ महापुरूष ही ईश्वर हैं ऐसे ईश्वर को समर्पित होकर कर्म करने वाला समाधि को प्राप्त होता है। समाधि क्या है इसे विभूति पाद में सूत्रकार ने स्पष्ट किया है। बाह्य कर्मों को नहीं अपितु योग की निर्धारित क्रिया। (जिसे सूत्रकार ने साधन पाद के प्रथम सूत्र में ही स्पष्ट किया है) को समर्पित भाव से करके योग के परिणाम समाधि (स्व स्वरूप) को प्राप्त होता है।

योग के मुख्यतः आठ अंगों में अभी तक यम और नियम के संबंध में प्रकाश डाला गया। अब उसके तीसरे अंग आसन के बारे में देखें-

स्थिरसुखमासनम्॥४६॥

आसन स्थिर होने पर सुख प्राप्त होता है। अनेक विद्वानों के मत से जिसमें आराम मिले उसमें स्थिर होकर बैठने का नाम आसन है।

योगपथ में सबको चलने का अधिकार है। विकलांग कौन सा आसन लगा सकते हैं? सूत्रकार का कहना है कि आसन सिद्ध होने पर ही प्राणायाम पकड़ में आता है। जब तक आसन सिद्ध नहीं होता तब तक प्राणायाम पकड़ में नहीं आयेगा। दुकानदार एक ही आसन से पूरा दिन निकाल देता है। इस क्रम में वर्षों बीतने के बाद भी प्राणायाम पकड़ में नहीं आता।

जैसे कि आप सबको विदित हो सूत्रकार एक महान योगी थे। ऐसे योगियों में मानसिक एवं सामाजिक दुर्बलताओं एवं मान्यताओं का सर्वथा अभाव रहता है। लेकिन शोषण प्रवृत्ति की भावना तथा वास्तविकता के अभाव में बुद्धिजीवी लोग महापुरूषों के नाम से अनेकों काल्पनिक क्रियाओं का निर्माण करते रहते हैं तथा लोभ एवं भय दिखाकर उन क्रियाओं को अपनाने के लिये विवश भी करते हैं। प्रत्येक महापुरूष का लक्ष्य शाश्वत सुख है। इसी दृष्टिकोण से शास्त्रों की संरचना की गई है।

आस+न अर्थात् इच्छा का न होना, इच्छा रहित मन ही स्थिर होता है, इच्छाओं के पीछे मन भागता रहता है, स्थिर मन ही शाश्वत सुख का अधिकारी होता है।

ऐसा ही योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी निर्देश दिया है।

मयि सर्वाणि कर्माणिसन्यस्या ध्यात्म चेतसा।
निराशी र्निममों भूत्वा युध्स्व विगत ज्वरः।।

अर्जुन आशा ममता रहित होकर तथा संताप रहित होकर सम्पूर्ण कर्मो को मुझमें अर्पित करके ध्यान निष्ठ चित्त के द्वारा युद्ध में प्रवृत्त हो, आशा एवं ममता रहति होने पर ही मन एकाग्र (स्थिर) होता है।

आसन मारे क्या भया, मुयी न मन की आश।
जस कोल्हू के बैल को घर ही कोस पचास।।

यदि बाह्य आसन द्वारा कार्य सिद्धि की कामना करते हैं। मन की आशाओं (इच्छाओं) का निरोध नहीं करते तो हमारा सम्पूर्ण प्रयास कोल्हू के बैल सदृश निरर्थक श्रम ही सिद्ध होगा।

योगदर्शन के इस सूत्र को न समझने के कारण योगासनों के नाम से क्लास लगते हैं, जिसमें भाग लेने वालों में सफल प्रत्याशी को पदक दिये जाते हैं। इन आसनों से शरीर को सुड़ौल बनाया जा सकता है। अन्य लोगों की अपेक्षा शारीरिक क्षमता को बढ़ाया जा सकता है, लेकिन संस्कार जनित भोगों से तथा दुःखों से नहीं बचा जा सकता है। आसनों में विशारद होने के बाद भी संस्कारवश शरीर रोगी हो जाता है। संस्कार जनित समस्त दुःखों से तथा मन के इच्छा रहित होने पर उसके पूर्णतया स्थिर होने पर हमेशा के लिये दुःखों से छुटकारा संभव है। परमाराध्य गुरूदेव भगवान साधना काल में अधिकांशतः ६-७ दिन कुछ भी नहीं लेते थे कभी-कभी १५-२० दिन भी हो जाते थे ऐसा क्रम चलता ही रहता था, सेवक भोजन एवं चाय, दू ध, छाछ जो भी रख आते थे दूसरे दिन उसी समय ज्यों का त्यों रखा मिलता था, उसे उठाकर ताजा रख देते थे। एक बार छठवें सातवें दिन एक सेवक चाय रखने गया गुरूदेव भगवान ने पीने की इच्छा से ज्यों ही हाँथ में उठाया तो दिखाई पड़ा की चाय की प्लेट में एक बाल के बराबर दरार है, एक काँच की बड़ी गोली प्लेट में तीन-चार

चक्कर लगाकर उस बाल के बराबर छेद से नीचे गिर गई इसके साथ ही आवाज आई कि तुम गिर गये। वास्तव में भगवत पथ में बाल के बराबर भी इच्छाओं का कोई स्थान नहीं है, जब तक बाल के बराबर भी इच्छा शेष है तब तक गिरना उठना लगा ही रहेगा।

इन इच्छाओं से पूर्ण रूप से छुटकारा कैसे सम्भव है जिससे मन दृढ़ता पूर्वक स्थिर हो सके इसका अभ्यास कब तक करना है। इस पर कहते हैं-

प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसभापत्तिभ्याम्॥४७॥

सूत्रकार कहते हैं कि मन को अनन्त में बार-बार लगाने से जब इस प्रयत्न में शिथिलता आ जाय मन को जबरदस्ती घसीटकर न लगाना पडे, सहज ही अनन्त परमात्मा में स्थिर हो जाय इस अवस्था में मन सर्वथा इच्छा रहित होकर स्थिर हो जाता है।

परमात्मा में मन को लगाने से आसन सिद्ध होता है, बाह्य आसनों से शरीर को सीधा रखने में सहायता अवश्य मिलती है, ईष्ट के रथी होने पर अत्यधिक विरह वैराग्य में इसकी भी आवश्यकता शेष हो जाती है।

योग का अभ्यास करते-करते जब भजन भली प्रकार पकड़ में आ जाता है, मन भली प्रकार स्थिर होने लगता है, ऐसी अवस्था में परिश्रम न करने से दिन-रात भजन में बैठने के कारण रक्त संचार शिथिल पड़ जाता है जिससे रोगों की संभावना बढ़ जाती है। रक्त संचार को सुचारू रूप से चलाने के लिये ऋषियों ने व्यायाम के रूप में कुछ आसनों को चुना। थोड़ा समय इन बाह्य आसनों में देते रहने से रक्त संचार ठीक रहता है। जिससे शरीर स्वस्थ रहता है। स्वस्थ शरीर से भजन में मदद मिलती है लेकिन इस बाह्य शरीर की विभिन्न भंगिमाओं के द्वारा दुखों से छुटकारा संभव नहीं है इन बाह्य विभिन्न शारीरिक मुद्राओं में पारंगत होकर यदि कोई अभिमानवश यह समझने लगे कि मैं तो बहुत बड़ा योगी हो गया। ऐसा मानने मात्र से वह संस्कार रूप दुखों से नहीं छूट सकता। वह तो अनन्त परमात्मा में मन लगाकर मूल सहित दुखों के कारण संपूर्ण संस्कारों के विलय के साथ ही छुटकारा पा सकता है। यही उक्त आसन का तथा सूत्रकार का आशय है।

जब अनन्त परमात्मा में भली प्रकार मन स्थिर हो जाता है तो उससे

योगी को लाभ क्या है तथा उसका प्रमाण क्या है? इस पर कहते हैं-

ततो द्वन्द्वानभिघातः॥४८॥

उक्त अभ्यास से योगी द्वन्द्वों के आघात से सुरक्षित हो जाता है।

द्वन्द्व अन्दर होते हैं, मान-अपमान, राग-द्वेष, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास इत्यादि हजारों प्रकार के संकल्प साधक के अन्दर द्वन्द्व पैदा करके उसके मन को अस्थिर करते रहते हैं, लेकिन साधक वैराग्य के साथ बार-बार अपने मन को परमात्मा में केन्द्रित करके द्वन्द्वों के आघात से ऊपर उठ जाता है। यदि बाह्य आसनों की बात होती तो सभी आसनों में भली प्रकार पारंगत व्यक्ति के पास किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं होना चाहिये, लेकिन यह द्वन्द्व प्राप्ति पर्यन्त रहते हैं।

आसन की सिद्धि में द्वन्द्वों के शान्त होने से योगी श्वांस की गति पकड़ पाता है इस पर कहते हैं-

तस्मिन् सति श्वाँसप्रश्वाँसयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥४९॥

उक्त आसन के सिद्ध होने पर श्वॉस-प्रश्वाँस में उठने वाले संकल्प विकल्पों का विच्छेद अर्थात् निरोध हो जाता है। यही प्राणायाम है।

योगपथ में आरूढ़ साधक के समक्ष जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार संकल्प-विकल्प के रूप में उभरकर विघ्न पैदा करते रहते हैं। वैराग्य के साथ अभ्यास के परिणामस्वरूप जब मन परमात्मा में स्थिर हो जाता है तो यह द्वन्द्व पैदा करने वाले संकल्प विकल्प भी शान्त हो जाते हैं। संकल्प जो साधक के अन्दर उठते हैं विकल्प साधक बाह्य वायुमण्डल से प्रश्वाँस के समय ग्रहण करता है। यह दोनों द्वन्द्व पैदा करते हैं इनके भली प्रकार शान्त होने पर साधक श्वाँस में ढलने वाले नाम को भली प्रकार सुनता है, देखता है, श्वाँस-प्रश्वाँस के इस निर्विघ्न अवस्था को प्राणायाम अर्थात् प्राणों का ठहर जाना कहते हैं। यह प्राणायाम आसन की सिद्धि तत्पश्चात् द्वन्द्वों से उपराम होने पर सिद्ध होता है। प्रचलित प्राणायाम श्वाँस को रोककर किया जाता है। जितनी देर तक श्वाँस रूका रहा उतना प्राणायाम मान लिया जाता है, लेकिन इस प्राणायाम से हम समाधि को नहीं प्राप्त हो सकते। फेफड़ों को शक्तिशाली बना सकते हैं।

उपनिषदों में कथा आती है कि एक बार सभी इन्द्रियाँ अपनी-अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए शरीर से बाहर निकलने लगी क्रमशः सबके निकलने के बाद भी शरीर की प्रक्रिया यथावत् चलती रही लेकिन प्राण के निकलने पर शरीर निष्चेष्ट एवं सभी इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो गईं। इससे प्राण की श्रेष्ठता प्रमाणित हो गई। सबने प्रार्थना करके प्राण की पूजा किया तथा उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार किया। आत्मा ही प्राण के रूप में समस्त शरीर में प्रवाहित रहता है। इसके निकल जाने पर सब निष्चेष्ट एवं निष्क्रिय हो जाते हैं। यदि श्वाँस ही प्राण है तो जितनी देर श्वाँस बाहर रूकी रहती है उतनी देर मृतक रहना चाहिये क्योंकि मृतक की श्वाँस बाहर भीतर नहीं होती।

आत्मन एवं प्राणों जायते'' प्रश्नोपनिषद प्र./३/३

आदित्यो हवै बाह्यः प्राण प्रश्नो. प्र./३/८

मनुष्य जितने संकल्प करता है, आत्मा की विद्यमानता में ही करता है, प्रत्येक संकल्प में आत्मा का प्रकाश जाता है। इन्हीं संकल्पों से आत्मा के ऊपर आवरण आता है, जिससे आत्मा दुर्बल होती है, संकल्पों के निरोध से आत्मा का क्षय रूक जाता है। इस रूकने की प्रक्रिया को योगेश्वर श्रीकृष्ण अक्षर पुरूष कहते हैं। संकल्पों के माध्यम से आत्मा क्षर होती है इस प्रक्रिया को क्षर पुरूष कहते हैं।

यहाँ प्राणायाम में एक बात स्पष्ट हो गई कि संकल्प के निरोध से आत्मा का क्षर होना रूक जाता है। इसलिए इसे प्राणों का याम (रूकना) कहते हैं। जब तक मनुष्य संसार का चिन्तन करता है तब तक आत्मा को क्षर पुरूष कहते है। ईश्वर का चिन्तन करने पर यही आत्मा अक्षर पुरूष हो जाता है।

प्राणायाम के परिणाम को तथा इसके वास्तविक स्वरूप को कि किसका निरोध करना है श्वाँस का अथवा श्वाँस में उठने वाले संकल्पों का। अगले सूत्रों में क्रमशः स्पष्ट करते रहेगें। इसी क्रम में आगे देखें-

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः॥५०॥

बाह्य एवं अन्दर की वृत्ति का स्तंभित होकर देश, काल एवं संख्या द्वारा प्राणायाम लम्बा एवं अत्यधिक सूक्ष्म हो जाता है।

सूत्रकार प्राणायाम को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि प्राणायाम श्वाँस रोकने की प्रक्रिया नहीं अपितु अनन्त जन्मों के संस्कार जो वृत्तियों के रूप में पड़े हैं तथा वृत्तियों के रूप में लोग जो संकल्प वायुमण्डल में छोड़ते रहते हैं इन संकल्पों को ग्रहण करने वाली वृत्ति तथा अंदर संकल्प उत्पन्न करने वाली वृत्ति को स्तम्भ की तरह स्थिर करना है जिससे साधक श्वाँस में उठने वाली नाम ध्वनि को सुन सके, देख सके क्योंकि इनके पूर्ण निरोध में ही स्वरूप दर्शन एवं विलय है। प्रहलाद ने गर्म खम्भे (स्तम्भ) में एक चींटी तत्पश्चात् ईश्वर को देखा था चींटी मन की सूक्ष्मावस्था का चित्रण है।

येष सर्वेषुभूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशयते।
द्रश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

वैदिक ऋषियों की भी यही अनुभूति है, इसी अवस्था का चित्रण करते हुए पूज्य परमहंस जी महाराज कहा करते थे कि मेरी श्वाँस बांस की तरह खड़ी है। हृदय देश में साधक योगाभ्यास करते समय देखता है कि मन हृदय देश में कितनी देर रूका **''मनोहद् निरूद्ध च''** इस अभ्यास के द्वारा योगी अपने समय को बढ़ाता रहता है मन के रूकने की सीमा बढ़ती रहती है। मन निरोध की समयावधि वृत्तियों के निरोध के ऊपर है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इस अवस्था को वायुरहित स्थान में जलते हुए दीपक से तुलना की है जैसे वायु रहित स्थान में रखे हुए दीपक में कंपन नहीं होता ऐसे ही योगी के जीते हुए मन की अवस्था होती है। महर्षि पातंजलि ने यहाँ स्पष्ट किया कि श्वाँस नही अपितु वृत्तियों का निरोध करना है और इस निरोध के अभ्यास को बढ़ाते बढ़ाते अत्यंत सूक्ष्मावस्था को प्राप्त होना है अर्थात् वृत्तियों का पूर्ण निरोध करना है।

अगले सूत्र में प्राणायाम को पुनः स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः॥५१॥

बाह्य एवं अन्दर के विषयों का निरोध चौथा प्राणायाम है।

यहाँ सूत्रकार प्राणायाम को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि साधक को श्वाँस का निरोध नहीं करना है बल्कि अनन्त जन्मों के मन के अन्तराल में पड़े विषयी संस्कार जो संकल्प के रूप में चित्त में उत्पन्न होकर विघ्न पैदा करते हैं उनका तथा विषय सम्बंधी बाह्य संकल्पों का निरोध करना है। इस निरोध

प्रक्रिया को महर्षि चौथा प्राणायाम कहते हैं अर्थात् यह प्राणायाम की अंतिम (पराकाष्ठा) अवस्था है।

प्राणायाम से लाभ क्या है इस पर कहते हैं-

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्॥५२॥

प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश (आत्मा) में जो प्रकृति का आवरण है वह क्षीण होने लगता है। पूर्णतया क्षीण होने पर दृष्टा अपने स्वरूप को प्राप्त होता है।

अनन्त जन्मों के कुसंस्कार जिसे माया भी कह सकते हैं, आवरण के रूप में पड़े हैं। जितने संकल्प उतने आवरण एक-एक संकल्प का निरोध जिसे सूत्रकार ने समाधिपाद के प्रथम सूत्र में वृत्तियों का निरोध कहा है। यह वृत्तियाँ ही आत्मा के ऊपर आवरण के रूप में हैं, इन्हीं वृत्तियों को सूत्रकार ने यहाँ प्राणायाम में स्तंभित (निरोध) करने के लिए कहा है। इतना स्पष्ट निर्देश देने के बाद भी बर्हिमुखता के कारण लोग कल्पित् प्राणायाम के द्वारा निरर्थक श्रम करते रहते हैं।

प्राणायाम के फलस्वरूप योगी की क्षमता कैसी हो जाती है? इस पर कहते हैं-

धारणासु च योग्यता मनसः॥५३॥

जिस परमात्मा के दर्शन, स्पर्श और विलय के लिए योग पर आरूढ़ हुए मन में उस परमात्मा को धारण करने की क्षमता (योग्यता) आ जाती है।

परमात्मा में मन को बार-बार लगाते हुए अर्थात् अहर्निश परमात्मा का चिन्तन करते हुए वृत्तियों के निरोध से अर्थात् संकल्पों के निरोध से जब मन विशुद्ध होकर स्थिर हो जाता है, यही मन की निर्मल अवस्था है। इस समय योगी वस्तु को धारण करने योग्य होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, इत्यादि जो वृत्तियाँ आवरण के रूप में पड़ी थी वह सर्वथा शान्त हो जाती है, तब

''काम क्रोध मद मान न मोहा।
लोभ न छोभ, राग नहि द्रोहा॥
जिनके कपट दंभ नहि माया।

तिनके हृदय बसहु रघुराया।।
निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा।

इस स्थिति को और अधिक स्पष्ट रूप से सूत्रकार ने समाधि पाद के एकतालिसवें सूत्र में कहा है।

आसन की सिद्धि कैसे होगी, प्राणायाम कैसे पकड़ में आयेगा? आत्मा के ऊपर पड़ा आवरण कैसे दूर होगा? ईश्वर दर्शन की तथा उसे धारण करने की योग्यता कैसे आयेगी? इसका उपाय बताते हुए कहते हैं-

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां
प्रत्याहारः।।५४।।

सम्पूर्ण इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों से सर्वथा सम्बन्ध रहित होकर मूल चित्त के अनुरूप ढलना प्रत्याहार है।

महर्षि पातंजलि का कहना है जब तक इन्द्रियाँ अपना-अपना रस ले रही हैं, तब तक आवरण बना रहेगा, प्राणायाम नहीं होगा, इसके लिए प्रति आहार अर्थात् मनसहित समस्त इन्द्रियों का योग के प्रति आहार अर्थात् योग के अनुकूल ढलना (आचरण) समस्त शब्दों एवं दृश्यों को योग के अनुरूप ढालना जिससे आवरण बढ़े आत्मा और परमात्मा में दूरी पैदा हो उन दृश्यों एवं शब्दों को न ग्रहण करना यही इन्द्रियों का प्रत्याहार है।

महान संत गोस्वामी जी ने कहा कि-

रोकिहौं नैन विलोकत औरहिं,
शीश ईश ही नइहौ।
श्रवननि और कथा नहि सुनिहौ।
रसना और न गइहौ।
जानकी जीवन की बलि जइहौ।।

योगेश्वर श्रीकृष्ण अर्जुन को प्रत्याहार के सम्बन्ध में निर्देश देते हुए कहते हैं कि-

मच्चित्ता मदगत्प्राणाः बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।अ/१०/९

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।।अ/९/३४

दस इन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ इन्हीं के माध्यम से मन विषयों को भोगता है। यह सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय भोगों से सर्वथा अलग होकर गोस्वामीजी की तरह दृढ़ प्रतिज्ञ होकर योगी प्रत्याहार की अवस्था प्राप्त करता है।

प्रत्याहार के क्रमशः अभ्यास से योगी को क्या लाभ होता है, इस पर देखें-

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।५५।।

प्रत्याहार अर्थात् इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटाकर चित्त के तद्रूप वृत्तियों को ढालने का अभ्यास करते हुए पूर्ण निरोधकाल में उसके परिणाम स्वरूप योगी को परम् वश्यता अर्थात् पूर्णरूप से स्ववश अन्तःकरण के साथ योगी परम तत्व परमात्मा को भी वश में कर लेता है-

''कायेन्द्रिय सिद्धिरशुद्धिक्षया तपसः''

मन के एक एक संकल्प को जीतते हुए अर्थात् परमात्मा में निरोध करते हुए योगी अपने मन को पूर्ण रूप से जीत लेता है, यही
योगी की वास्तविक विजय है।

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।
परमात्मा को पाइये मन ही की परतीत।।

इति ''साधनपाद''

श्री परमात्मने नमः

विभूति पाद

योग के नाम पर अनेकों क्रियायें समाज में प्रचलित हैं लेकिन महर्षि पातंजलि ने मात्र वृत्तियों के निरोध को योग कहा है। जिसके परिणाम में ईश्वर प्राप्ति के साथ परम् शान्ति परम् कल्याण है।

योग, कुयोग ज्ञान अज्ञानू।
जँह नहि राम प्रेम परधानू।।

योग के नाम पर अनेकों क्रियायें योग नहीं कुयोग हैं। योग का आरंभ ईश्वर प्रेम एवं अंत उसकी प्राप्ति में है।

इतना स्पष्ट होने के बाद भी भौतिक सुख सुविधाओं एवं उपलब्धि के प्रलोभन से योग के नाम पर अनेकों प्रकार की क्रियाओं का अभ्युदय होता ही रहता है। एक क्रिया को छोंड़कर दूसरी क्रिया को अपनाते हुए जीवन का अंत हो जाता है, प्रचलित हजारों क्रियाओं के बीच फंसा मनुष्य जीवन के अंतिम क्षणों तक भी निर्णय न लेने के परिणामस्वरूप अनन्त संस्कारों का दुःख स्वरूप बोझ लेकर इस दुनिया से विदा होता है। दुःख के सिवाय व्यक्ति के हाँथ कुछ भी नहीं लगता। निर्धारित क्रिया का पूर्ण निष्ठा एवं श्रद्धा से पालन करके एक-एक संस्कारों को क्रमशः शमन करते हुए ईश्वर की विभूतियों से एवं अनुभूतियों से गुजरते हुए, सम्पूर्ण दुःखों के अंत के साथ मनुष्य ईश्वर को प्राप्त होता है।

मनुष्य भौतिक सम्पन्नता के लिए जिन काल्पनिक क्रियाओं का आश्रय लेकर अनेकों प्रकार के शारीरिक क्लेश सहता है। क्लेश उठाकर परिणाम में क्लेश को ही प्राप्त होता है। क्लेश उठाकर जो भौतिक वस्तुयें प्राप्त की वह टिकाऊ कब हैं। एक दिन उनका नष्ट होना निश्चित है और नष्ट होने पर दुख

निश्चित है।

क्या योग के नाम पर भौतिक उपलब्धियों का प्रलोभन देकर अनेकों प्रकार की काल्पनिक क्रियाओं को मनुष्यों पर थोपने वाले मानव जाति के हितैषी हैं? उन क्रियाओं के पालन में मानसिक एवं शारीरिक कष्ट, उन क्रियाओं के परिणाम में प्राप्त वस्तु के वियोग में कष्ट से मनुष्य को मिला क्या? सभी महापुरूषों ने जो योग का निर्धारित मार्ग संसार को दिया है उस पर चलकर आप अनायास ही ईश्वरीय वैभव (सिद्धियाँ) जिसकी लोग कल्पना भी नहीं कर सकते उस सुख का उपभोग करते हुए अंत में ईश्वर को प्राप्त होते हैं। जहाँ संसार के दुखों का सर्वथा अभाव होता है।

सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं।
अंत काल रघुपति पुर जाहीं।।
''जो सुख सुरपुर सपनेउ नाही''

ऐसे सुख का उपभोग करते हुए योगी परमशान्ति परमधाम को प्राप्त होता है, इसी सत्य का महर्षि पातंजलि ने क्रमशः वर्णन किया है। योगी जैसे-जैसे योगाभ्यास द्वारा क्रमशः आगे बढ़ेगा तब उसे किस प्रकार की एवं कैसे कैसे ईश्वरीय विभूतियाँ प्राप्त होती हैं सबको क्रमशः दर्शाने का प्रयास किया है। योगी जैसे-जैसे योगाभ्यास एवं सयंम द्वारा आगे बढ़ेगा त्यों-त्यों ईश्वरीय विभूतियाँ उसे वरण करती जायेंगी। लेकिन इन विभूतियों (सिद्धियों) में यदि योगी उलझ गया और इन्हें ही सत्य मान बैठा तो लक्ष्य (परमात्मा) से वंचित रह जायेगा अर्थात् संसार चक्र में भटकना पड़ेगा।

योग पथ पर चलते-चलते जब योगी के मायिक दुर्भेध ग्रंथि के छूटने का समय आता है, तो उस समय यह विभूतियाँ (सिद्धियाँ) अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचकर योगी को विचलित करने का प्रयास करती है, लक्ष्य पर दृष्टि रखने वाला साधक विभूतियों के संयोग को सहज ही पार कर लेता है।

छोरति ग्रन्थि जानि खगराया।
विघ्न अनेक करई तब माया।।
कल बल छल कर जाई समीपा।
अंचल वात बुझावहि दीपा।।

जो तेहि विघ्न बुद्धि गहि बांधी।
तौ बहोरि सुर करंहि उपाधि।।
होहि बुद्धि जो परम सयानी।
तिन तन चितव न अनहित जानी।।

ईश्वरीय विभूतियों का आना निश्चित है, तभी योगी समझ पाता है कि मेरा मार्ग सही है। किसी मार्ग पर चलकर आप कहीं पहुँचना चाहते हैं, उससे सम्बन्धित मार्ग में मिलने वाली मार्ग निर्देशिका पट्टिका ही तो निर्धारित मार्ग की पहचान है। इसी प्रकार योगपथ पर क्रमशः आगे बढ़ने वाले योगी के समक्ष ईश्वरीय विभूतियाँ (सिद्धियाँ) इस बात का प्रमाण है कि उसका मार्ग एवं उसका संयम सही है, लेकिन साधक को इनमें उलझना नहीं है। उस मील के पत्थर को पकडकर बैठना नहीं है, नहीं तो गंतव्य नहीं मिलेगा। इसीलिए सूत्रकार ने इसी विभूति पाद के सैंतीसवें सूत्र में इन समस्त विभूतियों को विघ्न कहा है, इनमें उलझना नहीं है बल्कि इनका पार पाना है।

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।।

जिन सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए अनादि काल से यंत्र, मंत्र, तंत्र, देवी-देवताओं, भूत-प्रेत, जिन्न, वेताल इत्यादि के माध्यम से कन्दराओं में, श्मशान में, एकान्त जलाशय या नदी किनारे जाकर अनेकों प्रकार से शारीरिक कष्ट एवं अनुष्ठानों के साथ अनेकों काल्पनिक क्रियाओं का प्रचलन है। इन काल्पनिक क्रियाओं से अनेकों प्रकार की सिद्धि प्राप्ति करने वालों को महापुरूषों ने (''तान विद्धासुर निश्चियान'') असुर तथा उन सिद्धियों को आसुरी माया कहा है।

योगपथ पर चलकर मिलने वाली सिद्धियाँ शारीरिक कष्ट से नहीं अपितु मन एवं इन्द्रिय संयम के साथ सहज ही प्राप्त होती है जिनका प्रतिकूल प्रभाव एवं परिणाम भी नहीं होता। इनसे आगे बढ़ने पर योगी अपने स्वरूप को प्राप्त होता है जिसे कैवल्य या मोक्ष कहते हैं। जहाँ योगी को शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है।

विभूतियाँ प्राप्त होने पर योगी कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे विचलित हो सकता है तथा इसके प्रभाव से कैसे सुरक्षित रह सकता है। इसका क्रमशः

उल्लेख सूत्रकार ने किया है। पिछले दो पादों में सूत्रकार ने समाधिपाद एवं साधनपाद में योग से संबंधित मुख्य-मुख्य बिन्दुओं का उल्लेख किया है, लेकिन योग साधना में चलकर समाधि पर्यन्त दूरी तय करने पर मिलने वाली उपलब्धियों का उल्लेख वहाँ न करके सूत्रकार ने इसको अलग से एक अध्याय के रूप में दिया है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी इस उपलब्धि का उल्लेख गीता के दसवें अध्याय में अलग से करके योग के महत्व को स्पष्ट किया है। प्रस्तुत है योग से प्राप्त विभूतियों का क्रमिक वर्णन-

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा॥१॥

चित्त का अपनी स्वाभाविक चंचलता को छोड़कर हृदयदेश में बँध (रूक) जाना धारणा है, ऐसी धारणा प्रत्याहार के सतत् अभ्यास का परिणाम है।

साधनपाद में योग के क्रमशः आठ अंग बताये गये हैं। इसी को भगवान बुद्ध ने अष्टांगिक योग मार्ग कहा है। जिसमें महर्षि पातंजलि ने यम एवं नियम के पालन की विधि न बताकर मात्र उसके परिणामों को बताया है। साधना का आरंभ आसन से है तत्पश्चात् प्राणायाम पकड़ में आता है। प्रत्याहार में दृढ़ता आने पर ही मन हृदय देश में रूकता है जिसे धारणा कहते हैं। इसी अवस्था में धारण करने योग्य परमात्मा को मन धारण करता है। ईश्वर को धारण करने की क्षमता इसी अवस्था में आती है इसलिए इसे धारणा कहते हैं। योगी दृढ़ निश्चिय करके बार-बार मन को संकल्प रहित करके इस योग्यता को प्राप्त करता है। धारणा किस रूप में परिवर्तित होती है। आगे इसी क्रम में देखें-

तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम् ॥२॥

हृदय देश में संकल्प रहित मन की अवस्था का नाम धारणा है, इसी वृत्ति का लगातार बने रहना अर्थात् लगातार मन का इसी अवस्था में बने रहने का नाम ध्यान है। इस अवस्था में योगी दूरस्थ दृश्यों एवं घटनाओं को प्रत्यक्ष देखने की क्षमता प्राप्त कर लेता है, जो कृत्रिम ध्यान पद्धति द्वारा सम्भव नहीं है।

एक बार भगवान शिव सती के साथ विचरण कर रहे थे, उसी समय

मार्ग में लक्ष्मण सहित राम को सीता की खोज में विकल देखा। भगवान शिव ने दूर से ही सच्चिदानन्दन घन कहकर प्रणाम किया। सती को संदेह हुआ कि शिव जी स्वयं जगत में वंदनीय हैं, इन्होंने एक राजा के लड़के को सच्चिदानन्दन घन कहकर क्यों प्रणाम किया। सती तर्क कुतर्क करने लगी। भगवान शिव ने परीक्षा लेने के लिए भेजा, सती ने सोचा यह सीता को खोज रहे हैं, मैं सीता के रूप में मिलकर इनकी परीक्षा लूंगी। सीता के वेष में सती को देखकर भगवान श्रीराम ने पूँछा! भगवान शिव को कहाँ छोड दिया, आप वन में अकेली क्यों घूम रही हैं, इतना सुनते ही सती शर्मिन्दा होकर वापस आ गई। लौटते समय भगवान सती को आगे सीता लक्ष्मण सहित दिखाई दिये, पीछे मुड़कर देखा तो वहाँ भी वैसे ही दिखाई दिये। पुनः सती ने शिव सहित समस्त लोकपालों को भगवान श्रीराम की सेवा करते देखा। शिव जी के पास आने पर जब सती ने पूछा तो उसने मना कर दिया कि मैने कोई परीक्षा नहीं ली, तब भगवान शिव ने ध्यान लगाकर देखा।

चौ. तब देखेऊ संकर धरि ध्याना।
सती जो कीन्ह मरम सब जाना।।

सती ने जैसे-जैसे परीक्षा ली थी, उसको प्रत्यक्ष देखा। ध्यान की अवस्था में योगी से कुछ छिपा नहीं रहता है। लेकिन ध्यान एक दम पकड़ में आ जाय ऐसा सम्भव नहीं है। जैसा आज आधुनिक ध्यान पद्धति का प्रचलन है। ध्यान सतत् योग साधना में लगे रहकर कई वर्षों का, कई जन्मों का एक सफल परिणाम है, ध्यान की इस अवस्था को पाने के लिए योगियों को कई जन्म लग जाते हैं, कई वर्ष लग जाते हैं। प्रथम यम तथा नियम का पालन करते हुए आसन को प्रत्याहार के माध्यम से दृढ़ करते हुए अर्थात् समस्त दृश्यों एवं शब्दों को योग के अनुकूल ढालने की दक्षता के साथ मन हृदय देश में स्थिर हो जाता है, इस मन के निरंतर स्थिर रहने की अवस्था का नाम ध्यान है।

ध्यान की पराकाष्ठा का परिणाम क्या है? इस पर देखें-

तदेवार्थमात्रनिर्मासां स्वरूप शून्यमिव समाधि।।३।।

अर्थ एक मात्र परमात्मा है शेष सब अनर्थ है। मात्र अर्थ की प्राप्ति शेष है। चित्त की यह शुभाशुभ संकल्प शून्य अवस्था समाधि है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इसी अवस्था का चित्रण करते हुए अध्याय पांच के उन्नीसवें श्लोक में कहा है कि अर्जुन योगाभ्यास करते हुए जिसने अपने अन्तःकरण से संसार के शुभाशुभ भयंकर प्रवाह को मिटा दिया है, ''यही संसार को जीतना है'' उसका मन सम एवं शांत है। इधर ब्रह्म भी निर्दोष सम एवं शान्त है, इधर योगी का मन भी निर्दोष एवं सम हो गया। इसलिए वह योगी ऐसी अवस्था में ब्रह्म में स्थित हो जाता है, यही समाधि (सम+आदि) है।

यही सूत्रकार महर्षि पातंजलि कहते हैं कि योग का सतत् अभ्यास करते-करते ध्यान की पराकाष्ठा में योगी का चित्त सर्वथा शून्य हो जाता है। उस समय जो परम अर्थ परमात्मा है मात्र वही शेष रहता है। उसी की प्रतीत होती है अभी चित्त का विलय हुआ नहीं है। चित्त की इस निर्दोष अवस्था का नाम समाधि है जैसे ईश्वर में कोई शुभाशुभ संकल्प नहीं होते ना ही वह किसी के शुभाशुभ कर्मों को ग्रहण करता है, यही अवस्था ध्यान की पराकाष्ठा में योगी के चित्त की होती है।

यह ध्यान की पराकाष्ठा ही समाधि कहलाती है अर्थात् परमात्मा जैसा सम है, अनादि है। वही अवस्था इस समय योगी के चित्त की है। शून्य कहते हैं आकाश को जैसे आकाश निर्मल निर्विकार होता है यही चित्त की अवस्था समाधि कहलाती है। अभी चित्त शेष है इसके विलय के साथ योगी स्वरूपस्थ हो जाता है। इसीलिए सूत्रकार ने कहा है कि चित्त के सर्वथा शून्य होने पर अर्थ (परमात्मा) की मात्र प्रतीती होती है विलय नहीं।

अब धारणा, ध्यान एवं समाधि के मिश्रित स्वरूप को बताते हैं-

त्रयमेकत्र संयमः ॥४॥

धारणा, ध्यान एवं समाधि का एकत्र होना ही संयम है।

लोग व्यावहारिक भाषा में कहा करते हैं कि हम बड़े संयम नियम से रहते हैं, लेकिन सूत्रकार की दृष्टि में तीनों का एकत्रित होना ही संयम है।

धारणा के दृढ़ होने से ध्यान पकड़ में आता है, ध्यान की निरंतरता समाधि कहलाती है। समाधि चित्त की निर्विकार अवस्था है, कृत्रिम समाधि से इस समाधि का कोई संबंध नहीं है। तीनों का एकत्रित भाव संयम कहलाता है। उस संयम का परिणाम क्या है? इस पर कहते हैं-

तज्जयात्प्रज्ञा लोकः ॥५॥

उक्त संयम के परिणामस्वरूप योगी प्रज्ञा लोक को जीत लेता है अर्थात् प्रज्ञा पर योगी का पूर्ण अधिकार हो जाता है। योगी की बुद्धि पूर्णरूपेण ईश्वरीय प्रकाश से संयुक्त हो जाती है। उसकी साधना में लेशमात्र भी अंधेरा शेष नहीं रहता। इस अवस्था में योगी की प्रज्ञा ईश्वर की प्रज्ञा के समान होती है अर्थात् योगी की बुद्धि में ईश्वर प्रवाहित रहता है इसी अवस्था को सम्प्रज्ञात योग या समप्रज्ञात समाधि भी कहते हैं।

यदि कोई किसी को जीत लेता है तो जीती हुई वस्तु पर जीतने वाले का पूर्ण अधिकार होता है। प्रज्ञा लोक को जीतने के बाद योगी को क्या करना है? इस पर कहते हैं–

तस्य भूमिषु विनियोगः॥६॥

उस प्रज्ञा को प्राप्त योगी योग की सातों भूमिकाओं में क्रमशः विनियोग करें अर्थात् योग की समस्त भूमिकाओं में ईश्वरीय प्रकाश की परिपूर्णता देखें, कहीं भी किसी प्रकार की कालिमा शेष न रहे। योग की सात भूमिकाएं हैं, शुभेच्छा, सुविचारणा, सत्वापति असंक्सक्ति, पदार्थ भावना एवं तुर्यगा। इन सातों भूमिकाओं को समाधि के द्वारा पार करना है, शुभ एक मात्र परमात्मा है। समाधि अवस्था में ऐसा शुभ संकल्प भी शेष हो जाता है। यदि किसी प्रकार का स्फुरण है तो अभी ध्यान एवं समाधि कहाँ, तब तक संयम कहाँ? सूत्रकार कहते हैं क्रमशः इन भूमिकाओं में विनियोग करके स्वरूप को प्राप्त करें जो योग का परिणाम है, जिसके लिए योग का आचरण किया है। विनियोग अर्थात् विशेष कुशलता के साथ प्रज्ञा को संयुक्त करना चाहिये। माता कुन्ती ने नियोग के द्वारा ही पांच संताने प्राप्त की थीं।

उक्त साधन का महत्व क्या है, योग में इनका स्थान क्या है? इस पर कहते हैं–

त्रयमन्तरंगं पूर्वेभ्यः॥७॥

प्रथम एवं द्वितीय पाद में वर्णित साधनों की अपेक्षा धारणा, ध्यान एवं समाधि अन्तरंग साधन है।

यम एवं नियम में उनका महत्व तथा लक्षण एवं परिणाम बताया गया

हैं। साधन की शुरूवात तो आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार से है। यह तीनों एक साथ होते हैं। समझने के लिए सूत्रकार ने पृथक-पृथक उल्लेख किया है, मन को इच्छा रहित करना आसन है। इस अवस्था में ही प्राणायाम पकड़ में आयेगा लेकिन प्राणायाम एवं आसन की सिद्धि प्रत्याहार पर निर्भर है, प्रत्याहार, वैराग्य एवं अभ्यास द्वारा पूर्णतया योग के अनुरूप ढलना है। जगत प्रपंच को योग के अनुरूप ढालना है। आसन प्राणायाम प्रत्याहार, अभ्यास वैराग्य दैवी गुण इत्यादि सब धारणा, ध्यान, समाधि जन्य संयम के बाहरी अंग है। बाहरी अंग का अर्थ यह नहीं कि यह स्थूल जगत में किया जाने वाला कोई साधन है। समाधि मन की परम शान्त अवस्था है, इससे पूर्व जो साधन किया जाता है, वह मन की क्रिया है। इसलिए इसे बहिरंग कहा गया है। यह समाधि जनित संयम भी निर्बीज समाधि का बहिरंग साधन है। इस पर कहते हैं-

तदपि बहिरंग निर्वीजस्य॥८॥

यह समाधि जन्य संयम निर्बीज समाधि का बाह्य अंग है। निर्बीज समाधि योग की चरमावस्था है यहाँ सभी साधन शेष हो जाते हैं, यह निर्बीज समाधि, सबीज समाधि एवं ध्यान के सतत् अभ्यास का परिणाम है। बर्हिरंग अर्थात् इसी सबीज समाधि के अन्तराल मे निर्बीज समाधि निहित है। इस अवस्था में कर्माशयों का भण्ड़ार स्थान एवं कर्माशय का निर्माता यह चित्त भी विलय हो जाता है। इसलिये इसे निर्बीज (बीज रहति) जिसमें अंकुरण (स्फुरण) होता है वह कारण भी मिट गया। प्रथम सबीज समाधि अर्थात् कर्माशयों (संचित संस्कारों का समूह) सम्पूर्णतया नष्ट होता है, लेकिन इन संस्कारों का निर्माण एवं संग्रह करने वाला चित्त शेष रहता है। निर्बीज अवस्था में इसका भी विलय हो जाता है। इसलिये इस सबीज समाधि को निर्बीज समाधि का बर्हिरंग कहते हैं। सबीज समाधि तक योगी कैसे पहुंचता है क्योंकि बिना सबीज समाधि के निर्बीज अवस्था नहीं प्राप्त होगी।

सबीज समाधि को प्राप्त करने के लिए योगी को क्या करना है इस पर कहते हैं-

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ।
निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः।९॥

व्युत्थान- योग के उत्थान में जिससे व्यवधान उत्पन्न हो ऐसे संस्कार व्युत्थान कहलाते हैं। जब तक इन संस्कारों का स्फुरण बना है तब तक पूर्ण निरोध कहाँ। नाम, रूप एवं ब्रह्मविद्या के सतत् अभ्यास से, मन के निरोध काल के संस्कारों की प्रबलता से व्युत्थान के संस्कार दब जाते हैं, संसार के भोग संबंधी संस्कारों का दब जाना चित्त का इनसे सर्वथा पृथक होना यही अन्वय है। चित्त की यह अवस्था ही निरोध परिणाम है।

योग पथ में प्रवेश से पूर्व चित्त द्वारा जो संस्कार बनते हैं, वह चित्त को बहिर्मुख करते हैं। संसार में ही अनुरक्त रखने वाले हैं, जो अनेकों प्रकार के क्लेशों के उद्गम हैं। योग पथ में निर्धारित साधन के सतत् अभ्यास से उपर्युक्त संस्कारों का दब जाना यह चित्त का निरोध परिणाम है। कोई भी शक्तिशाली कमजोर को दबा देता है। योगाभ्यास में जब तक मायिक संस्कार बलवान रहते हैं तब तक साधन में विघ्न डालते रहते हैं। सतत् योगाभ्यास एवं गुरूकृपा से योग संबंधी संस्कारों के बाहुल्य से अशुभ संस्कार दब जाते हैं। यही चित्त की निरोध अवस्था है।

इस निरोध अवस्था में चित्त की स्थिति को स्पष्ट करते हैं।

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्॥१०॥

चित्त का निरोध करने वाले संस्कारों की अत्यधिक प्रबलता से चित्त भली प्रकार शान्त प्रवाहित रहता है, इसी को योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता में कम्पन्न रहित दीपक की जलती हुई लौं कहकर सम्बोधित किया है।

भली प्रकार चित्त की शान्त अवस्था के परिणाम स्वरूप योगी के चित्त की क्रमशः क्या स्थिति होती है, चित्त की इस एकाग्र अवस्था के परिणाम को स्पष्ट करते हैं।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चितस्य समाधि परिणामः।११।

सर्वार्थ- संसार में जो कुछ दिखाई सुनाई पड़ता है, पहले उसी को यह मन अच्छा समझता है संसार के समस्त भोगों में ही अपना हित समझता है, लेकिन जब किसी पूर्ण योगी से इसके दुखद परिणाम को समझकर साधना में लग जाता है तो जिन भोगों में उसे अर्थ (अपना हित, अपना लाभ) दिखाई देता था। जबकि भोगों में अनर्थ के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस प्रकार अनर्थो

की जड़ भोगशक्ति को अर्थ मानकर चलने वाले साधक को योग साधना की पराकाष्ठा में सम्पूर्ण अर्थो को ग्रहण करने वाली चित्त की वृत्ति क्षय होकर परमात्मा में एकाग्र हो जाती है, ऐसी चित्त की सतत् एकाग्र अवस्था समाधि कहलाती है।

साधन पथ में चित्त की आरंभिक अवस्था एवं पराकाष्ठा दोनों अवस्थाओं का चित्रण महापुरूषों ने शास्त्रों में किया है। जितनी देर मन एकाग्र रहता है, उतनी देर योगी की समाधि होती है। सतत योगाभ्यास से समाधि का समय बढ़ता जाता है। महर्षि ने इसी पाद के नौवें सूत्र में बताया कि साधना करते करते जब मन की बहिर्मुख वृत्ति शान्त हो जाती है तो चित्त निरोध होकर भली प्रकार शान्त हो जाता है। इसी को अगले सूत्र में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि किसी भी प्रकार के विषयों को ग्रहण न करने वाली वृत्ति पूर्णतया एकाग्र हो जाती है।

निरोध संस्कार बल से व्युत्थान के संस्कार दब जाते हैं लेकिन निरोध के संस्कारों का कार्य चलता रहता है अर्थात् योग से संबंधित कोई न कोई संकल्प कार्य करता है लेकिन समाधि के सतत् अभ्यास द्वारा योगी के शुभाशुभ संस्कार शान्त हो जाते हैं। यह अवस्था योगी के समाधि परिणाम की अवस्था है इस पर देखें-

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः॥१२॥

बार-बार समाधि के अभ्यास द्वारा उदय होने वाले अर्थात् चित्त को बहिर्मुख करने वाले संस्कार तथा चित्त को शान्त करने वाले संस्कार जब तुल्य अर्थात् बराबर हो जाते हैं अर्थात् दोनों प्रकार की वृत्तियाँ जब भली प्रकार शान्त हो जाती हैं। यह चित्त की पूर्ण एकाग्र अवस्था है, योग के परिणाम की अवस्था है।

समाधिकाल में एक भी मायिक संकल्प एवं दृश्य यदि शेष है तो साधक के मन को बहिर्मुख कर देता है, साधना से अलग कर देता है। ब्रह्मविद्या एवं नाम रूप के सतत् अभ्यास से योग की पराकाष्ठा में योगी शुभाशुभ संकल्पों से उपराम हो जाता है। साधनाकाल में ध्याननिष्ठ चित्त में आने वाले समस्त अनुभव जो विभिन्न अवस्थाओं का बोध कराते हैं। पंच महाभूत एवं

इन्द्रियों के माध्यम से होते हैं इसी पर कहते हैं-

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः।१३।

बस इतना ही पंचमहाभूत एवं इन्द्रियों द्वारा अनुभूति में आने वाले धर्म लक्षण, योग की विभिन्न अवस्थायें तथा साधना के परिणाम के बारे में व्याख्या की गई है।

जो भी संस्कार बनते हैं वह पंच महाभूतों एवं इन्द्रियों के सहयोग से ही बनते हैं, इनके द्वारा निर्मित संस्कारों के कारण मन की विभिन्न अवस्था होती है, यदि मन साधना में शान्त प्रवाहित है तो यह मन की शान्त अवस्था है, यदि किसी मायिक संकल्प के साथ मन बहिर्मुख हो गया तो यह मन की चंचल अवस्था है। मन की जैसी अवस्था होती है वैसा ही परिणाम होता है। यहाँ महर्षि ने समाधि परिणाम को धर्म का लक्षण कहा है, जो भूतों एवं इन्द्रियों के सहयोग से मन के पूर्ण एकाग्र होने पर प्राप्त होता है, बस इतना ही धर्म का लक्षण है, यही योगी की सर्वोच्च अवस्था है, योग की इसी पराकाष्ठा में योग का परिणाम है।

अगले सूत्र में धर्म के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं।

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी।।१४।।

शान्त एवं उदित होने वाली दोनों प्रकार की वृत्तियाँ अव्यक्त के अनुगत होकर व्याप्त भाव को प्राप्त होने पर योगी पूर्ण धर्मी कहलाता है।

महर्षि ने इसी पाद के वारहवें सूत्र में शान्त और उदित होने वाली वृत्तियों के सम होने पर मन की पूर्ण एकाग्र अवस्था का परिणाम कहा है लेकिन यह नहीं बताया कि इसके बाद योगी किस अवस्था को प्राप्त होता है, यहाँ बताते हैं कि योग साधना के सतत् अभ्यास के परिणामस्वरूप प्रथम व्यवधान डालने वाले संस्कार शान्त हो जाते हैं तत्पश्चात् मन के निरोध वाले संस्कार परिणाम काल में शान्त हो जाते हैं।

तत्क्षण योगी जो व्यापक परमात्मा है। उसमें प्रवेश पा जाता है, ऐसा योगी ही पूर्ण धार्मिक होता है परम्परावादी नहीं।

योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो व्यापक है, शाश्वत है, अचल स्थिर

है, जिसे जल गीला नहीं कर सकता, शस्त्र काट नहीं सकता, आकाश अपने में समाहित नहीं कर सकता, अग्नि जला नहीं सकती ऐसा अविनाशी परमात्मा ही सनातन है न कि परम्परायें। आवश्यकतानुसार परम्परायें तो बनती बिगड़ती रहती हैं। परम्परायें कभी व्यापक एवं शाश्वत् नहीं होती। प्रत्येक प्रान्त की, राष्ट्र की एवं समाज की अलग-अलग परम्परायें हैं, रीति-रिवाज हैं, शाश्वत् एवं व्यापक तो मात्र एक परमात्मा है। जिसे परम्पराओं में रहते तथा मन के भोगों में अनुरक्त रहते कोई नहीं जान सकता, कोई नहीं प्राप्त कर सकता। इसके लिये योगी को आचरण करना पड़ेगा। पूर्ण निष्ठा से योगाचरण करने वाला जिस क्षण संसार के प्रवाह को मिटाने में सफल हो जाता है उसी क्षण वह परमात्मा में, जो व्यापक है, सनातन है, उसमें प्रवेश पा जाता है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥अ./२/२४
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्माणि ते स्थिताः। अ.५/१९

इसी सत्य को महर्षि पातंजलि कहते हैं कि योगाभ्यास करते-करते शान्त और उदित होने वाली वृत्तियाँ जब सम हो जाती हैं तो वह योगी व्यापक भाव को प्राप्त हो जाता है। ऐसी अवस्था को प्राप्त योगी ही पूर्ण धार्मिक होता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण भी यही कहते हैं कि चिन्तन करते-करते मन सम हो जाता है, इसके अन्तराल में संसार का प्रवाह सर्वथा मिट जाता है। परमात्मा भी निर्दोष एवं सम है उधर योगी का चित्त भी निर्दोष एवं सम हो गया। वह तत्काल ब्रह्म जो व्यापक है उसमें प्रवेश पा जाता है।

योग पथ में हजारों साधक एक साथ प्रयत्न करते हैं, परमात्मा की प्राप्ति रूप धर्माचरण करते हैं, लेकिन परिणाम एक साथ नहीं मिलता इसका कारण क्या है? इस पर कहते है-

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः॥१५॥

परिणाम की भिन्नता में क्रम की भिन्नता हेतु है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन क्रम-क्रम से अभ्यास करता हुआ योगी मन की उपरामता को प्राप्त होता है। परमाराध्य गुरूदेव भगवान

कहा करते हैं कि मन को कहीं न कहीं योगाचरण में लगाये रखो, इस प्रकार क्रम-क्रम से अभ्यास करते हुये योग के सभी सोपानों को साधक पार करके परमधर्म परमात्मा को प्राप्त करता है, यदि साधना पथ में बिना क्रम के स्वेच्छा से लगते हैं तो परिणाम भी भिन्न होगा।

साधना पथ में जिसका जैसा संयम है उसे वैसा ही परिणाम प्राप्त होता है। इसी पाद के दसवें, ग्यारहवें एवं बारहवें सूत्र में महर्षि ने समाधि परिणाम, निरोध परिणाम एवं एकाग्रता परिणाम का उल्लेख किया है। उसके संयम तथा संयम से प्राप्त परिणाम की चर्चा वहां न करके उसे यहाँ कह रहे हैं। इस पर देखें-

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्॥१६॥

तीनों परिणामों समाधि, निरोध एवं एकाग्रता परिणाम पर संयम कर लेने से योगी को भूतकाल एवं भविष्य का ज्ञान हो जाता है।

धारणा, ध्यान एवं समाधि का एकत्रित होना संयम है। जब तक यह एकत्रित नहीं होते तब तक संयम नहीं होता। सूत्रकार का कहना है कि अभी विभूतिपाद के दसवें, ग्यारहवें एवं बारहवें सूत्र में जो निरोध एकाग्रता एवं समाधि परिणाम बताया है। उन तीनों परिणामों पर क्रमशः समाधि की परिपक्व अवस्था पर्यन्त अभ्यास करके संयम प्राप्त करना है।

वृत्तियों का निरोध करना योग का मुख्य विषय है। इसलिये इसे महर्षि पातंजलि ने कई बार दोहराया है। समाधिपाद के अड़तालीसवें, उन्चासवें एवं पचासवें सूत्र में इसकी पुनः चर्चा करके निरोध पर बल दिया है, उन्होंने बताया कि ऋतम्भरा प्रज्ञा से निर्मित संस्कार बहिर्मुख संस्कारों का निरोध करते हैं, निरोध का सतत् अभ्यास साधक को समाधि तक पहुँचाता है। यहाँ उसी प्रश्न को पुनः लेकर वृत्तियों के निरोध की अनिवार्यता बताकर निरोध के क्रम को और अधिक स्पष्ट करते हैं। महर्षि कहते हैं कि वृत्तियों का निरोध करने वाले संस्कारों की बाहुल्यता से ''व्युत्थान'' चित्त को बहिर्मुख करने वाले संस्कार दब जाते हैं, जिससे चित्त शान्तिपूर्वक साधना में अग्रसर रहता है, इस प्रकार लगातार चित्त की शान्त अवस्था समाधि में परिणित हो जाती है, समाधि की इस अवस्था में सम्पूर्ण अर्थों को ग्रहण करने वाली बहिर्मुख वृत्ति पूर्णतया शान्त होती है। चित्त की यह अवस्था दीर्घकाल तक बनी रहने से समाधि की

पराकाष्ठा में चित्त को शान्त करने वाली वृत्ति एवं बहिर्मुख करने वाली वृत्ति भली प्रकार सम हो जाती है। महर्षि कहते हैं साधना यही तक नहीं है चित्त की यह अवस्था सतत् बनी रहे, बस इतना ही योग की उपलब्धि है। ऐसा मानकर साधक साधना छोड़ न बैठे इसलिए कहते हैं कि मन भली प्रकार एकाग्र तो हो गया है, लेकिन जब तक यह एकाग्रता समाधि में न बदल जाय तब तक लगे रहो। सर्वप्रथम वृत्तियों का निरोध, निरोध वृत्तियों का एक धारा में शान्त प्रवाहित रहना ही चित्त की एकाग्र अवस्था है, यह एकाग्रता भी समाधि में बदल जाय। समाधि की पराकाष्ठा भी परिणाम में बदल जाये तो संयम का फल परमात्मा प्राप्त हो जाता है।

जब चित्त समाधि अवस्था में पहुंच जाता है। उस समय सभी संस्कार भली प्रकार प्रसुप्त रहते हैं, इस अवस्था में योगी भूतकाल में हुए जन्मों को, घटनाओं को तथा भविष्य में आने वाले घटनाचक्र को भली प्रकार देखता है। भगवान बुद्ध ने इसी अवस्था में अपने पूर्व भवों को भली प्रकार देखा था। पूज्य परमहंस जी महाराज इसी अवस्था में अपने साधुता के सात जन्मों की स्थितियों को देखा तथा अन्यान्य जन्मों के बारे में भी देखा। इस स्थिति के अनेक योगियों के पूर्वभवों का उल्लेख मिलता है। जिससे योग की अनादिता सिद्ध होती है। कागभुसुण्डि ने कहा कि-

कवनि योनि जन्मेउ जहँ नाही। सुनु खगेश भ्रमि-भ्रमि जग माही।।
देखेंउ सबि कर करम गोसांई। सुखी न भयऊ अबहीं की नाई।।

योगपथ में चलकर इस अवस्था को प्राप्त विश्व के अनेकों महापुरूषों ने अपने पूर्व भवों को स्पष्ट देखकर उसका उल्लेख किया है। यही महर्षि कहते हैं कि इन तीनों परिणामों पर संयम प्राप्त कर लेने पर योगी भूत एवं भविष्य का ज्ञाता हो जाता है। समाधि वह अवस्था है जो योगी को भूत एवं भविष्य के ज्ञान के साथ स्वरूप की स्थिति दिला दे।

अब क्रमशः संयम के द्वारा प्राप्त अन्य उपलब्धियों का उल्लेख करते हैं। जैसे-जैसे योगी के संयम का स्तर उठता जाता है, जिन-जिन वृत्तियों को वह संयम के द्वारा जीतता जाता है उतनी क्षमता बढ़ती जाती है। योगी संयम के द्वारा विभिन्न उपलब्धियों से गुजरते हुए कैसे कैवल्य तक पहुँचता है। इसी

क्रम में क्रमशः प्रस्तुत हैं संयम एवं उसके परिणाम का चित्रण-

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभाग संयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्॥१७॥

शब्द, अर्थ एवं इनको जानने वाली बुद्धि आदि वृत्ति के समिश्रण का अभ्यास सा हो रहा है, उसके विभाग में संयम करने से सम्पूर्ण भूतों की दशा का ज्ञान हो जाता है। विद्वानों के मत से इनमें संयम करने से सम्पूर्ण प्राणियों की वाणी का ज्ञान हो जाता है।

विश्व में अनादि काल से आचार्यों एवं प्राचार्यों का कभी कोई अभाव नहीं रहा है। एक-एक शब्द की वृहत व्याख्या करके विद्धत समुदाय अपनी विद्वता का परिचय देता आ रहा है। अनेक गूढ़ धर्मशास्त्रों एवं पुस्तकों का भाष्य करते समय प्रत्येक विद्वान अपनी भाषा में प्रत्येक शब्द को सन्धि विच्छेद करके उसके एक-एक शब्द का भली प्रकार अर्थ करने के बाद भी किसी विद्वान को भूत प्राणियों की वाणी का ज्ञान तो नहीं मिला, न पूर्व के विद्वानों में कभी यह क्षमता पाई गई, न वर्तमान में ही ऐसी क्षमता किसी विद्वान में दिखाई देती है और ऐसा कदापि सम्भव भी नहीं है और न ही ऐसा दृष्टिकोंण महर्षि पातंजलि का है।

यह योग दर्शन है ईश्वर से जोड़ने वाला शास्त्र। प्रत्येक महापुरूष ने ईश्वर को पाने के बाद ही संसार को इस रहस्यमय ज्ञान का संदेश मौखिक एवं शास्त्रों के रूप में दिया है, क्या भौतिक शिक्षा प्राप्त विद्वान की मनःस्थिति एवं संत की मनःस्थिति एक जैसी हो सकती है? संत सम्पूर्ण विश्व को एक परिवार के रूप में देखता है, वैसा बर्ताव भी करता है। ऐसी क्षमता एवं मनःस्थिति मात्र शास्त्रों को पढ़ने से या उनका अर्थ करके नहीं प्राप्त की जा सकती है। बल्कि योग साधना की पराकाष्ठा समाधि काल में स्वरूप प्राप्ति के साथ प्रत्येक योगी को यह क्षमता प्राप्त होती है। योगी जैसी मनःस्थिति प्राप्त करके उनके भावों को ज्यों का त्यों समझा जा सकता है अन्यथा महापुरूषों के शब्द वागविलासिता के साधन बनकर रह जाते हैं। योग वाणी का विषय नहीं है यह क्रियात्मक है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि इसे सुनकर नहीं बल्कि चलकर योग की पराकाष्ठा में प्राप्त करने का विधान है।

तत्स्वयं योगसंसिद्धं कालेनात्मनि विन्दन्ति'

बौद्धिक कल्पना का योगपथ में कोई स्थान नहीं है, बौद्धिक स्तर से योगपथ को समझने का प्रयास भ्रम पैदा करता है। महर्षि ने कहा शब्दार्थ, शब्द तथा अर्थ में बुद्धि आदि वृत्तियों के मिश्रण का जो आभास हो रहा है, इन्हें संयम (समाधि) द्वारा पृथक करना है। ऐसा करने से सम्पूर्ण भूतों की दशा (गति) का ज्ञान हो जाता है। ऐसा योगी प्रत्येक भूत प्राणी की गति एवं उत्पत्ति स्थिति तथा भोगकाल का ज्ञान जब चाहे जान सकता है योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इसी अवस्था को प्राप्त होने के बाद अर्जुन का संदेह निवारण करते हुए कहा कि अर्जुन मेरे और तुम्हारे बहुत से जन्म हो चुके हैं मैं उन्हें सबको जानता हूँ, तुम नहीं जानते हो।

बहूनि में व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥अ.४/५

अर्जुन इस आत्मा को शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में स्थिति होते हुए गुणों के आधार पर भोगों को भोगते हुए केवल ईश्वर का साक्षात्कार करने वाले जानते हैं, मूढ लोग न ही जानते ।

उत्क्रामन्तं स्थितं भुज्जानं का गुणान्वितम्।
विमूढा नानु पश्यन्ति, पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः॥अ.१५/१०

बन्दरों की टोली में जड़ भरत की भाँति एक अच्छे संत की आत्मा को बन्दर के रूप में देखकर पूज्य परमहंस जी ने पास में खड़े हुए एक संत को बताया तत्पश्चात् उस बन्दर को ब्रह्मचारी कहकर बुलाया उसे रोटी दिलवाया। वह बन्दर नियमित सुबह निश्चित समय पर आकर पूज्य श्री से कुछ दूर शांत चित्त से लगभग डेढ़ घन्टे बैठे, जब पूज्य परमहंस जी महाराज ध्यान से उठें तब उसे रोटी दिलवा दें रोटी वहीं बैठकर खाले फिर नदी में पानी पीकर जंगल में ओझल हो जाय। एक दिन पूज्य परमहंस जी महाराज विनोद में बोले सिद्ध बना है अरे भजन ठीक रखता तो बन्दर क्यों बनता आज से भोजन नही मिलेगा, अपना कोई भगत (चेला) बना लो, इतना सुनने के बाद उस ब्रम्हचारी बन्दर ने पास के गाँव में एक किसान को स्वप्न दिया कि अनुसुइया आश्रम में ब्रह्मचारी बन्दर के लिए चना ले चलो, स्वप्न की उपेक्षा करके वह पुनः लेट गया इस बार एक जोर का थप्पड लगा बोला सुनता नही है, जल्दी ले चल। वह

किसान भयभीत मन से अपनी पत्नी को जगाकर लगभग एक मन चने साफ सुथरा करवाकर सूर्योदय के समय आश्रम पहुंचकर पूज्य परमहंस जी महाराज को प्रणाम करके बैठ गया। पूज्य महाराज जी बोले इतनी सुबह कैसे आया, वह बोला यहाँ कोई ब्रह्मचारी बन्दर है, महाराज जी बोले है, क्या बात है, उसने स्वप्न की सारी बात बता दी, इतने में ब्रह्मचारी बन्दर आकर उस चने की गठरी पर बैठ गया। पूज्य परमहंस जी ने बताया कि यही है वह ब्रह्मचारी बन्दर जिसने तुम्हें स्वप्न में थप्पड़ मारा है, फिर बन्दर से बोले कि अब आपको किसी को परेशान करने की जरूरत नही है अब जिन्दगी भर भोजन मिलेगा। जब महापुरूष इस संयम पर पहुँच जाते हैं तो वह सम्पूर्ण भूतों की दशा को जान लेते हैं, यह भी योग की एक विभूति है। इस अवस्था को प्राप्त स्वामी रामानंद जी ने अपने एक वरिष्ठ शिष्य को जातीय अभिमान के कारण रैदास के रूप में जन्म लेने पर उसके घर जाकर उसे देखा, जातीय अभिमान के कारण च्युत होने पर उसकी दशा को उन समर्थ योगी ने देखा। पूज्य परमहंस महाराजजी जो परमाराध्य गुरूदेव के गुरू थे आश्रम में पल रहे एक सुग्गी (मादा तोता) तथा एक कुत्ता किस दशा को प्राप्त हुए प्रत्यक्ष देखा, साधकों की प्रत्येक दशा से परिचित थे। कौन कितने जन्मों का साधक है, कौन भव से पार होगा कौन नहीं, आगे इस जीव की कौन सी दशा होगी पूर्व जन्मों में यह क्या था कुछ भी नहीं छिपा था उन समर्थ योगी से।

महर्षि पातंजलि का यही कहना है कि शब्द अर्थात् ''ब्रह्म' शब्दं ब्रह्म व्याजानात्''

शब्द-शब्द सब कोई कहे, वह तो शब्द विदेहु।
जिभ्या पर आवै नहीं निरख परख कर लेहु।।

परमात्मा को शब्द ब्रह्म भी कहा गया है। वह है तो व्यापक सत्ता लेकिन हमारे उपयोग में तभी आयेगा, जब महर्षि पातंजलि एवं योगेश्वर श्रीकृष्ण जैसे सद्गुरू के माध्यम से हमारे हृदय में जाग्रत हो जाय, अनुभवी सूत्रपात के साथ हमारा मार्गदर्शन करने लगे, लेकिन ऐसी जागृति तभी सम्भव है जब हमारी श्रृद्धा एवं आस्था ऐसे महापुरूषों के प्रति हो तथा उनके आदेश का अक्षरशः पालन करें। अनुभवी सूत्रपात के साथ ही वह परमप्रभु भक्त के हृदय में अपनी रश्मियां बिखेरने लगता है। जागृति के साथ ईश्वरीय निर्देशन में

चलने वाला साधक एक दिन समाधि को प्राप्त हो जाता है, अनुभव के रूप में जो ईश्वरीय निर्देशन मिलता है वह सद्गुरू प्रदत्त है वही उसका वास्तविक अर्थ जानते हैं। उनके संरक्षण और निर्देशन में चलने वाला साधक समझता है। ईश्वरीय निर्देशन को समझते हुए तथा उस पर अमल करते हुए योगी पूर्ण दैवी सम्पत्ति का अधिकारी हो जाता है यही वास्तविक (अर्थ) सम्पत्ति है, इस सम्पत्ति (अर्थ) में प्रकृति मिश्रित हो जाने से साधना में भ्रम पैदा हो जाता है। पीछे साधनापाद के बीसवें सूत्र में महर्षि ने कहा कि यद्यपि दृष्टा शुद्ध है, निर्लेप है तथापि बुद्धि वृत्ति के अनुरूप देखने वाला हो जाता है और अपने को वैसा ही मानने लगता है।

''द्रष्टा दृष्टिमात्र शुद्धोऽपि प्रत्यानुपश्य''

योग की पराकाष्ठा में दृष्टा के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है। यही महर्षि पातंजलि कहते हैं कि अविद्या के कारण दृष्टा, दृश्य एवं इन्द्रियादि वृत्तियों का जो मिश्रण सा हो गया है इन सबको समाधि रूप संयम द्वारा क्रमशः समस्त वृत्तियों से दृष्टा को पृथक करना है, ऐसा होने पर योगी समस्त भूत प्राणियों की तथा उनकी वाणी, दशा को जानने वाला हो जाता है।

साधनाकाल में जितना साधक दूरी तय कर लेता है, जितना अपने स्वरूप (दृष्टा) को वृत्तियों से पृथक कर लेता है उतना स्वरूप तथा उसकी स्थिति स्पष्ट होती जाती है। इस स्थिति का ज्ञान रखने वाला चित्त तथा दृष्टा आत्मा साधना काल में मिश्रित से रहते हैं इसी कारण साधक उसे अपनी अवस्था मान बैठता है जबकि यह चित्त की स्थिति होती है। दृष्टा प्रकृति में मक्खन की तरह दही में मिश्रित रहता है, मथकर निकाल लेने पर पुनः उसमें मिश्रित नहीं होता है, इसी प्रकार यह दृष्टा चिन्तन रूपी मथानी से मथकर समाधि की अवस्था में अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त होता है। इस अवस्था में प्रत्येक योगी योगेश्वर श्रीकृष्ण की तरह ही देखता है कि गुण गुणों में बर्तते हैं, जिसे हम कर्ता मान रहे थे यह मात्र दृष्टा है, इस स्तर के प्रत्येक महापुरूष की रहनी एवं जीवनी से उनकी इस अवस्था का बोध होता है।

शब्द ब्रह्म है, उसकी प्राप्ति का साधन दैवी सम्पत्ति है यही वास्तविक (अर्थ) सम्पत्ति है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि अर्जुन तू दैवी सम्पत्ति को प्राप्त हुआ है, तू मुझमें अर्थात् ब्रह्म में निवास करेगा, तू शोक मत कर। इसी संयम

के क्रम में आगे देखें-

संस्कारसाक्षात्कारणात् पूर्वजातिज्ञानम्॥१८॥

संयम (समाधि) द्वारा संस्कारों का साक्षात्कार कर लेने पर पूर्व जन्म कब, कहाँ कैसे हुए थे, सबका ज्ञान हो जाता है।

सूत्रकार ने इस प्रश्न को यहाँ पुनः कहकर साधना की पराकाष्ठा का चित्रण किया है, इस प्रश्न को साधनपाद के उनतालिसवे सूत्र में संस्कारों को परिग्रह कहा है।

''अपरिग्रह स्थैर्यें जन्म कथन्ता सम्बोधः''॥

योगपथ में चलने से पूर्व साधक ने संसार के बारे में जितना विचार किया है जो भी कर्म किये हैं वह सब अनन्त जन्मों के संचित कर्म, (कर्माशय) संस्कार या परिग्रह कहलाते हैं। यह सभी संस्कार हजारों चित्त की वृत्तियों द्वारा निर्मित होते हैं इसलिए महर्षि ने वृत्तियों के निरोध से योग का आरंभ बताया है। ज्यों ज्यों साधक अपने चित्त को बाह्य जगत से समेटकर निरोध करता जाता है, त्यो-त्यों दैवी संस्कार बलवान होते हैं। यह संस्कार साधक के मन को निरोध करने में सहायक होते हैं। इन्हीं दैवी संस्कारों के बल से जब साधक चिन्तन में अनवरत लगने की क्षमता प्राप्त कर लेता है तब मायिक संस्कार जो जन्म, मृत्यु ,जरा, व्याधि के कारण है, निर्मूल होने लगते हैं। साधनाकाल में गुरूदेव भगवान साधक को पूर्वकृत संचित कर्मो (संस्कारों) का साक्षात्कार कराने लगते हैं। अनुभव के माध्यम से साधक को बताते हैं कि वर्तमान में किस जन्म का संस्कार अपना परिणाम दे रहा है, भविष्य में कौन सा संस्कार आने वाला है। इस प्रकार क्रम से अनन्त जन्मों के संस्कारों को दिखाते हुए उनका निवारण करते हुए सद्गुरू स्वरूप तक की दूरी तय करा देते हैं। साधनाकाल में अविद्या जनित कर्म संस्कारों की क्या स्थिति होती है। इसको साधनापद के चौथे सूत्र में स्पष्ट किया है।

अविद्या क्षेत्रमुक्तरेषां प्रसुप्त तनुविच्छिन्नोदाराणाम्।

अविद्या जनित समस्त संस्कारों का क्रमशः साक्षात्कार करते हुए उनके परिणामों को पार करते हुए समाधि अवस्था में पूर्ण निवृत्ति के साथ योगी अपने पूर्व भवों को स्पष्ट जान लेता है।

इस अवस्था को प्राप्त जितने योगी हुए हैं उन्हें अपने पूर्व जन्मों का ज्ञान था। कागभुसुण्डि ने अपने सम्पूर्ण जन्मों को देखा।

कवनि योनि जन्मेउ जंह नाही।
सुनु खगेश भ्रमि भ्रमि जग माही।।

भगवान महावीर के शिष्य मृगापुत्र ने अपने पूर्व भवों को याद करके एक मुहूर्त भी महलों के सुखों में व्यतीत करने में अपने को असमर्थ पाया।

उस राजकुमार ने अपने माता-पिता को बताया कि मैं कई बार अग्नि में जिन्दा पकाया गया हूँ, कई बार जीवित अवस्था में मेरा शरीर नोचा गया है, कितने बार मजबूत लोहे की संड़ासियों से पकड़कर खींचा गया हूँ, वह असह्य वेदना याद करके मेरा मन इन भोगों में नहीं लग रहा है। इसी प्रकार भगवान बुद्ध ने अपने पूर्व जन्मों के बारे में बताया कि मैंने अनेकों बार पशु-पक्षी एवं वृक्ष योनियों को प्राप्त करके असह्य वेदनाओं का अनुभव किया है, अनेकों बार राज परिवार में जन्म लेकर वहां के भोगों से अतृप्त ही रहा हूँ। इन सभी योनियों में मैंने अनेक दुखों का अनुभव किया है, इसलिए मैंने समस्त दुखों से छूटने का संकल्प लेकर योगपथ पर चलकर कठोर साधना द्वारा समस्त दुखों के कारणों को मिटा दिया है। इस समाधि की अवस्था में अब मुझे पूर्ण शान्ति है, मैं यहाँ से सम्पूर्ण जन्मों के दुखों को देख रहा हूँ।

नारद जी ने बताया कि मैं एक अत्यन्त सुन्दर गन्धर्व कुमार था। एक बार संतों महापुरूषों की सभा में गाने के लिए आमंत्रित होकर गया। अपनी सुन्दरता एवं यौवन के नशें में मैं भूल गया कि संतों के दरबार में कैसे जाना चाहिये, कैसे गीत सुनाना चाहिये? मैंने संसार की तरह ही वहाँ भी अपने नशे में बिना किसी शिष्टाचार का पालन किये संगीत सुनाने लगा। ऋषियों ने मुझे श्राप दे दिया और मैं एक दासी पुत्र के रूप में जन्म लेकर संतों की सेवा करके प्रभु प्राप्ति की साधना योग क्रिया सीखकर पूरी निष्ठा एवं श्रृद्धा से लग गया। कई जन्मों की साधना के बाद आज मैं देवर्षि नारद के रूप में तुम्हारे सामने उपस्थित हूँ व्यास जी।

पूज्य परमहंस महाराजजी ने एक बार अनुभव में अपने अनन्त जन्म मृत्यु श्रृंखला को देखा अनन्त, चमड़े लटके हुये देखा, अनन्त जीवों को

बिलबिलाते हुए देखा, उन सब खोलों से सब शरीरों से निकल कर सबको फूंककर सबकी भस्मी को गंगा में प्रवाहित कर दिया ऐसा करते-करते वह थक गये, फिर उसी ज्ञान गंगा से एक दैदीप्यमान स्वरूप निकलकर पूज्य श्री के शरीर में प्रविष्ट हो गया और एक गंभीर आवाज आई कि यही विशुद्ध स्वरूप आपका है। समाधि की इस अवस्था में अपने पूर्व जन्मों की साधना को भी देखा। प्रत्येक महापुरूष योग साधना की इस अवस्था से गुजर कर स्वरूपस्थ हुए हैं।

ऋतंभरा प्रज्ञा द्वारा निर्मित संस्कारों से मायिक संस्कारों का नाश तत्पश्चात् इनका भी कोई उपयोग नहीं है। इन संस्कारों का साक्षात्कार फिर इन्हें नष्ट करके योगी स्वरूपस्थ होता है। अब संयम के क्रम में अगला सूत्र देखें-

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्॥१९॥

संयम द्वारा चित्त का सर्वथा निर्विकार एवं संकल्प शून्य होकर पृथक होने पर दूसरे के चित्त का ज्ञान हो जाता है अर्थात् समाधिस्थ चित्त के द्वारा दूसरों के चित्त का भी ज्ञान हो जाता है।

सूत्रकार का कहना है कि साधना करते-करते योगी जब समाधि को प्राप्त होता है, इस निर्विकार एवं निश्छल अवस्था में योगी का चित्त दर्पण की भांति स्वच्छ एवं निर्मल होता है, दर्पण के सामने जाते ही आपके चेहरे एवं शरीर की बनावट स्पष्ट हो जाती है, दर्पण के सामने बिल्कुल साफ-साफ दिखता है। वैसे ही संयम अर्थात् धारणा, ध्यान एवं समाधि द्वारा जिसका चित्त दर्पण की तरह निर्मल हो गया है ऐसे योगी के कोई सामने हो अथवा दूर वह किसी के चित्त को पकड़ कर जान लेता है कि इस समय उसका अच्छा विचार है अथवा बुरा विचार है। इस समय इसके अन्तःकरण में पवित्र विचारों का बाहुल्य है अथवा अपवित्र मायिक विचारों का बाहुल्य है। समाधि को प्राप्त योगी के लिए यह बहुत सहज बात है। समाधिस्थ योगी के लिए सब कुछ प्रत्यक्ष सा रहता है। **''करतल गत आमलक समाना''**

संयम के द्वारा योगी मात्र शुभाशुभ संकल्पों को जानता है, यह निश्चय पूर्वक नहीं कह सकता कि अमुक व्यक्ति अमुक विषय का चिन्तन कर रहा है। ऐसा क्यों नहीं बता सकता? इस पर कहते हैं।

न च तत् सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्॥२०॥

दूसरे के चित्त का ज्ञान आलम्बन सहित नहीं होता क्योंकि यह योगी का विषय नहीं है, यदि ऐसा करने लग जाय तो लक्ष्य छूट जायेगा।

सूत्रकार का मात्र इतना कहना है कि दूसरा व्यक्ति क्या सोच रहा है, शुभ अथवा अशुभ इसका ज्ञान हो जाता है। किसके बारे में सोच रहा है यह दावा नहीं कर सकता है क्योंकि चित्त का संकल्प क्षण-क्षण बदलता रहता है। उच्च कोटि के साधक तो यह जान लेते हैं कि अमुक साधक नाम का चिन्तन कर रहा है कि रूप का, ब्रह्मविद्या का चिन्तन कर रहा है अथवा सद्गुणों का क्योंकि ऐसा स्फुरण स्वतः दृष्टिमात्र पड़ते ही उच्चकोटि के साधक के अन्दर हो जाता है। आगे आने वाले पल में दूसरे के चित्त में क्या संकल्प आयेगा अथवा क्या सोचेगा यह कह पाना कठिन होता है? इसी को महर्षि कहते हैं कि अवलम्बन सहित ज्ञान नहीं होता।

संयम के द्वारा योगी अन्तर्धान कैसे होता है इस संबंध में कहते हैं।

कायरूपसंयमात्द्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः-
प्रकाशा सम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्॥२१॥

काया के रूप में संयम कर लेने से आँख के प्रकाश का संबंध टूट जाने से योगी की ग्राह शक्ति स्तम्भित अर्थात् स्थिर हो जाती है दृष्टि अन्तर मुख होने से योगी को अन्तर्धान होता है अर्थात् हृदय के अन्तराल में ध्यान लग जाता है।

कथा कहानियों में सुनते आये हैं कि कोई वस्तु या व्यक्ति दिखाई दिया फिर अदृश्य हो गया ऐसे अलौकिक रहस्यों को जानने के लिए एवं ऐसा बनने के लिए लोग अनेकों प्रकार के प्रयोग करते रहते हैं, लेकिन अभी तक यह क्षमता किसी में भी दिखाई नहीं देती ना ही बाह्य किसी भी प्रयोग के द्वारा ऐसा सम्भव है। यदि किसी भी बाह्य प्रयोग के द्वारा ऐसा सम्भव होता तो बड़े-बड़े आततायियों को अदृश्य होकर मार दिया जाता, अरबो-खरबों की स्मगलिंन करने वाले किसी की पकड़ में नहीं आते, हवाई जहाज तथा सर्वत्र आने जाने में कोई रोक ही नहीं रहती, ऐसे व्यक्ति के लिए किसी भी शक्ति सम्पन्न को बिना खून खराबा के अपने रास्ते से हटाना आसान होता।

योग पथ में सम्पूर्ण वृत्तियों को अन्तर्मुख करना है मन इन्द्रियों के माध्यम से बर्हिमुख होकर अनन्त वृत्तियों के रूप में हो जाता है। मुख्यतः पांच वृत्तियां रूप, रस, शब्द, स्पर्श एवं गन्ध है जिन्हें ज्ञानेन्द्रिय भी कहते हैं। योगपथ में क्रमशः इन्हीं इन्द्रियों को रोककर योगी अपने मन को स्थिर करने में सफल होता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन रूप, रस, शब्द, स्पर्श एवं गन्ध के द्वारा जितने भी संस्कार बनते हैं वह सब दुख रूप योनियों के कारण है, इसलिए दुख से छूटने की इच्छा वाले बुद्धिमान पुरूष इनमें रमन नहीं करते अपितु इन्हें रोककर मन को स्थिर करते हैं।

पांचों ज्ञानेन्द्रियों का पृथक-पृथक कार्य है। रसनेन्द्रिय का कार्य रस लेने का, स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श की तरफ आकर्षित होती है, घ्राणेन्द्रिय अच्छी सुगंध की तरफ आकर्षित होती है, चक्षु सुन्दर रूप की तरफ आकर्षित होते हैं और श्रवण मधुर शब्द की ओर। जब तक यह पांचों ज्ञानेन्द्रिय बाहर अपना कार्य करती रहती है तब तक कोई भी साधक योग में प्रवेश नहीं पा सकता है, इनको जीतकर ही मन को योग में स्थिर किया जा सकता है। संत कबीर ने कहा-

संतो घर में झगड़ा भारी।
रात दिवस मिल नित उठि लागै पांच ढोटा एक नारी,
न्यारो-न्यारो भोजन चाहें, पांचों अधिक सेवादी (स्वादी)।
कहत कबीर सोई जन मेरो जो या घर की रार निबेरे।

सूत्रकार का यही कहना है कि क्रमशः अभ्यास करते-करते जब साधक रूप का संयम कर लेता है तो चक्षु का उस रूप से संबंध टूट जाने से उस पर प्रकाश नहीं पड़ता, तब योगी अन्तर्धान की क्षमता प्राप्त करता है। जड़भरत इस संयम पर भली प्रकार स्थित न होने के कारण मृगयोनि में जन्म लिया, सौभीर ऋषि इसी कारण मछली योनि में गये।

साधक को सुन्दर दृश्य एवं रूप आकर्षित करते हैं, इनकी नश्वरता एवं परिणाम का बार-बार चिन्तन करने से दृष्टि उधर से हट जाती है, लेकिन अपने शरीर के प्रति दृष्टि बनी रहती है। इसकी सुविधा व्यवस्था में समय देने लगता है। सभी रूपों से जब दृष्टि हट जाती है तब योगी भली प्रकार अन्तर्मुख

हो जाता है, वृत्ति हृदय में एक तार चलने लगती है। कभी-कभी देखा जाता है मनुष्य सर्वश्रेष्ठ संगीत एवं नृत्य मंडली के बीच बैठा रहने पर भी न नृत्य देख पाता है, न सुन पाता है क्योंकि उस समय उसकी श्रृवण शक्ति एवं चक्षु शक्ति (प्रकाश) का किसी-दूसरी जगह सम्पर्क हो जाता है। जब वहाँ से सम्पर्क टूटता है तब बगल वाले से पूछता है कौन सा गीत हो रहा था अथवा कौन नृत्य कर रहा था आदि-आदि।

एक बार पूज्य गुरूदेव भगवान ने पूज्य परमहंस जी महाराज से जिज्ञासा वश पूछा कि भगवन् अत्यधिक ठण्ड के महीने में दिगम्बर अवस्था में भजन कैसे होता था। पूज्य श्री बताते कि जब अधिक ठण्ड लगने लगे सुरत अर्न्तमुख न हो तब कुछ दौड़ लगा लें। जिससे शरीर गर्म हो जाय, तुरंत ध्यान में बैठकर मन को सब ओर से समेटकर जहाँ सुरत टिक (स्थिर हो) जाय तो बाहर से संबंध टूट जाता था। जिससे ठण्डी का आभास नहीं होता था। यही महर्षि करते हैं कि जब रूप से संयम हो जाता है तब प्रकाश वहां नहीं पड़ता। सामने रहने पर भी नहीं दिखाई पड़ेगा। योगी ऐसी अवस्था में अन्तर्धान होता है यह एक ही ज्ञानेन्द्रिय को अर्न्तमुख करने का उपाय है। इसी प्रकार जब सभी ज्ञानेन्द्रियों से संबंध विच्छेद होगा, तब भली प्रकार अन्तर्धान की स्थिति आयेगी। यह तो एक इन्द्रिय को समेटने (जीतने) का उदाहरण है। इसी प्रकार सबको अपने-अपने विषयों से समेटना है क्योंकि सबको समेटने पर ही समाधि रूप संयम पूर्ण होता है।

साधना कैसे-कैसे पूर्ण होती है? पूर्ण होने के बाद योगी को अपने अन्तिम समय का ज्ञान कैसे होता है? इस पर कहते हैं-

''सोपक्रम निरूपक्रमं च कर्म तत्संयमाद्
परान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा॥२२॥

सोपक्रम अर्थात् क्रम से कर्म (चिन्तन) करने वाला साधक तथा बिना क्रम के निरूपक्रम कर्म (चिन्तन) करने वाला साधक जब भली प्रकार संयम की पराकाष्ठा को प्राप्त होता है तब अपने तथा दूसरे के अंत का ज्ञान अरिष्टो द्वारा भी हो जाता है।

संसार में जितने भी महापुरूष हुए हैं, सभी ने क्रम से योग पथ पर

चलकर स्वरूप की स्थिति प्राप्त की है। लक्ष्य प्राप्ति से पहले शरीर छूटने पर जहाँ से साधना छूटी है अगले जन्म में वहीं से करना है, लेकिन दूसरे साधकों को यह निरूपक्रम बिना क्रम के ही साधना दिखाई देगी। जबकि अन्य साधकों को आरंभ से ही बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति तथा परा का अभ्यास करना होगा क्योंकि एक साधक का तो प्रथम जन्म है। साधना के आरंभ का तथा एक साधक चौथी पांचवी या छठवी भूमिका को पारकर चुका है। दोनों की साधना एक जैसी नहीं होगी। एक साधक को सोपक्रम (क्रमशः) अभ्यास करना है, एक साधक को जहाँ से साधना छूटी है वहाँ से आरंभ करना है।

साधकों को साधनाकाल में भी अरिष्टो (अनिष्ट सूचक दृश्यों) के माध्यम से अपने पतन एवं उत्थान का ज्ञान मिलता है तथा इन्हीं अनिष्टकारी दृश्यों के माध्यम से अपनी तथा दूसरों की मृत्यु का ज्ञान भी योगी को प्राप्त होता है। जिन्हें देखकर योगी मृत्यु को निश्चित करता है। युद्धिष्ठिर ने अनुभव में देखा एक सियारिन (मादा गीदड़) मुंह से आग उगल रही है, पत्थर की मूर्तियां रो रही है, सभी जीव विपरीत आवाजें निकाल रहे हैं अर्थात् जिसकी जो आवाज हो उस आवाज में न बोलकर दूसरी आवाज में बोल रहे हैं, नक्षत्र मंडल दिन में ही टूटकर गिर रहे हैं, दिन में उल्कापात हो रहा है। यह सभी दृश्य मृत्यु को तथा महान संकट को सूचित कर रहे थे, अनिष्ट की आशंका से अर्जुन को जब द्वारिका भेजा तो श्रीकृष्ण शरीर छोड़ चुके थे। महर्षि कहते हैं कि ऐसे ही अनिष्टों के द्वारा साधक अपने उत्थान, पतन, संकट एवं मृत्यु का ज्ञान प्राप्त करता है। वह क्रम से भी हो सकता है, बिना क्रम के भी हो सकता है।

योगी को किन-किन संयमों पर कैसे-कैसे परिणाम तथा लाभ प्राप्त होते हैं? क्रम से देखें-

मैत्र्यादिषु बलानि॥२३॥

मैत्री आदि वृत्तियों में संयम करने से आत्म बल बढ़ता है। योगेश्वर श्री कृष्ण ने कहा कि अर्जुन जिसकी मन सहित इन्द्रियां जीती हुई हैं, उसका आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बर्तता है, परम् कल्याण करता है इसी आत्मा रूपी मित्र से मैत्री करके आत्म बल बढ़ता है।

सूत्रकार ने समाधि पाद के तैतीसवें सूत्र में यही बात कही है कि मैंत्री,

करूणा, प्रसन्नता, उपेक्षा, सुख-दुख, पुण्य, पाप सबके सब विषय हैं ऐसी भावना से चित्त निर्मल होता है निर्मल चित्त की इस अवस्था को ही ध्यान एवं समाधि कहा गया है।

''मैत्री करूणामुदितोपेक्षाणां सुख दुःख पुण्या पुण्य विषयाणां भावनात् चित्त प्रसादनम्''

जैसा कि पिछले पादों में बताया गया है कि वृत्तियों का निरोध ही योग है। अन्तिम वृत्ति के निरोध के साथ दृष्टा अपने स्वरूप को प्राप्त होता है, अनन्त वृत्तियां है लेकिन सूत्रकार ने मुख्य-मुख्य वृत्तियों के कार्य कलापों एवं परिणामों को दर्शाने का प्रयास किया है। इसी प्रकार अनन्त वृत्तियों को समझें। अनन्त वृत्तियों के रूप में आत्मिक बल बंटा हुआ है। जितनी वृत्तियों को साधक समेटता जायेगा उतना आत्मिक बल उसे मिलता जायेगा अर्थात् ईश्वरीय प्रकाश बढ़ता जायेगा। योग के परिणाम में योगी पूर्ण प्रकाश को प्राप्त कर लेता है।

''पूरि प्रकाश रहेउ तिहु लोका''

योग के लिए कोई भी आयु प्रतिबन्धित नहीं है। वृद्धा अवस्था में क्या कोई शारीरिक बल प्राप्त कर सकता है? अत्यन्त वृद्ध व्यक्ति क्या हाथी के बराबर बलवान हो सकता है? जबकि योग पथ में सबको समान अधिकार है। जहाँ भी बल के संबंध में महापुरूषों ने कहा है वहाँ आत्मबल के बारे में ही कहा है। उस को पाने के लिए प्रत्येक जिज्ञासु प्रयास करता है।

अगले सूत्र में पुनः बल संबंधी संयम के बारे में देखें-

बलेषु हस्तिबलादीनि॥२४॥

हस्ती आदि के बल में संयम करने से वैसा ही बल योगी को प्राप्त होता है।

योगपथ में यह एक बहुत बड़ा विघ्न है इस प्रकार का विघ्न कई जन्मों की दूरी पैदा कर देता है। इसलिए संयम के द्वारा इसे जीतना चाहिये। हस्ती अर्थात् बाह्य उपलब्धि का अभिमान **''मिटा दे अपनी हस्ती को अगर कुछ मर्तबा चाहे''** कि दाना खाक में मिलकर गुले गुलजार होता है। **''हस्ती मार बगल में दावै, ऊँट लिए लटकाय''**

प्रत्येक साधक के पास यह वृत्ति रहती है। किसी को शरीर की सुन्दरता एवं बल का अभिमान होता है, किसी को अपने उच्चकुल का अभिमान होता है। मैं इतने ऊँचे कुल का हूँ, मेरे परिवार में, मेरे संबंधियों में इतने ऊँचे-ऊँचे पदों पर हैं यह पद का अभिमान होता है। किसी को अपनी साधना का भी अभिमान होता है, किसी को अपनी विद्वता का अभिमान होता है। इन समस्त अभिमानों में फंसे मन को निकालकर स्थिर करके संयम तक पहुंचना है।

चाखा चाहे राम रस राखा चाहे मान।
एक म्यान में दो खड्ग देखा सुना न कान॥
प्रभुता से लघुता भली, लघुता से सब होय।
जस द्वतीया को चन्द्रमा मांथ नवै सब कोय॥
लघुता से प्रभुता भली प्रभुता से प्रभु दूर।
चीटीं ले शक्कर चली हांथी के सिर घूर॥
''नानक नन्हे होय रहयो ज्यों नन्ही सी दूब''

योग साधना से पूर्व जो साधक की हस्ती थी उसका अभिमान पीछा करता है। महर्षि कहते हैं इसमें संयम कर लेने से वह बल साधक को प्राप्त हो जाता है।

एक बार हम राजस्थान एक यज्ञ में निमंत्रण पर गये जहाँ अनेकों सम्प्रदायों के महन्त अपनी जमात सहित आये हुए थे वहाँ अत्यधिक भीड़ होने से हम एक किसान के खलिहान में सरसों की तुरी पर रात बिताकर सुबह स्नान करके जब यज्ञ स्थल पर गये तो वहाँ महात्माओं में झगड़ा हो रहा था। कुछ महात्मा पटा बनैती खेल रहे थे, जब झगड़ा शुरू हो गया तो खेल भी बन्द हो गये। झगड़े की शुरूआत एक महात्मा को अपने आसन से डांटकर उठा देने से हुई। एक महन्त अपने आसन पर बैठे थे। एक महात्मा जो पूर्व में वही पास के थाने में दरोगा थे, इस्तीफा देकर साधु बन गये, उनके आसन पर बैठ गये थे। महन्त जी को बुरा लगा उन्होंने डांटकर उन्हें उठा दिया। तब वह महात्मा बिगड़ गये, गाली गलौज शुरू कर दिया। कहने लगे साले सब चोर डकैत हो हम अभी फोन करके दरोगा को बुलाकर पिटाई लगवायेगें। यहाँ मेरे सब पूर्व

परिचित हैं, मैं इसी थाने में पांच साल रहा हूँ। भीड़ उस दृश्य को आश्चर्य चकित होकर देख रही थी, कुछ लोग तो वहाँ से जाने लगे थे। यज्ञ भण्डारे में विघ्न होता देख कुछ भक्त हमारे पास आकर कहने लगे कि आप सम्भाल लें नहीं तो भण्डारा बिगड़ जायेगा। हमने सोचा कि निमंत्रण देकर महात्मा ने हमें बुलाया और बैठने की जगह भी नहीं दिया रात खलिहान में बीती अब हम से ही कह रहे हैं कि आप सम्भालों। हमने उन महात्मा को बुलवाया जो गाली दे रहे थे, एक कुर्सी डलवा दिया उनके बैठने के लिए। इतने सम्मान से उनका क्रोध कुछ कम हुआ तब हमने कहा कि एक बात बताईये दरोगा बड़ा है या महात्मा। यदि दरोगा बड़ा है तो आप त्यागपत्र देकर महात्मा क्यों बने? क्या आपको अपने महात्मा पने पर विश्वास नहीं है जो आप पूर्व परिचय देकर महात्माओं को डरवा रहे हैं। भगवान महावीर के कान में तो एक चरवाहे ने कील घुसेड़ दिया था। जिससे काफी रक्त बहा फिर भी उन्होंने अपना कोई परिचय नहीं दिया, ना ही क्रोध किया, यदि राजपद बड़ा होता तो शायद राजभोग छोड़कर सैकड़ों राजकुमार महात्मा नहीं बनते, इतना सुनकर वह शान्त हो गये। हमने भोजन प्रसाद वहीं मंगवाकर खिला दिया। पहले बिना खाये पिये जा रहे थे। पुलिस फोर्स का, पद का शक्ति इत्यादि का अभिमान बहुत समय तक पीछा करता है।

इसलिए इसे भी संयम के द्वारा जीतकर आत्मिक बल प्राप्त करना चाहिये, अत्यन्त वृद्ध संत जो उठकर खड़े नहीं हो सकते, वह योग से परिपूर्ण होकर पूर्ण आत्मबल से संयुक्त है। एक रूग्ण या वृद्ध संत से आप कहे कि हाथी में संयम करके हाथी जैसा बल प्राप्त करके दौड़ लगायें ऐसा कदापि सम्भव नहीं है। जबकि आत्मबल, योग की पराकाष्ठा में बालक, वृद्ध एवं युवा में एक जैसा होता है। संयम से प्राप्त अन्य सिद्धि के बारे में देखें-

प्रवृत्तया लोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्ट ज्ञानम्॥२५॥

संयम के द्वारा प्राप्त ज्योतिषमती प्रवत्ति के प्रकाश में योगी दूर से भी दूर अत्यन्त सूक्ष्म वस्तुओं को भी देख सकता है। ऐसे योगी से कुछ भी नहीं छिपा रहता, संयम द्वारा ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

इस स्तर के योगी के लिए यह सम्पूर्ण जगत तथा इसका रहस्य **''करतल गत आमलक समाना''** हाथ में रखे हुए आमले के फल के

समान होता है।

किसी के पास दो सेल की टार्च है, किसी के पास सात सेल की टार्च है। आप सोचिये किस टार्च में अधिक रोशनी होगी। एक ही जगह दोनों व्यक्तियों को खड़ा कर दिया जाय, वहीं से अपने-अपने टार्च की रोशनी किसी वस्तु पर फेंककर देखें। दो सेल वाली टार्च में वस्तु धुंधली प्रतीत होगी, सात सेल वाली टार्च में वस्तु स्पष्ट दिखाई देगी, इसी प्रकार जिस योगी ने अपनी सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध करके संयम रूप समाधि को प्राप्त कर लिया है, उसमें साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक आत्मिक प्रकाश होता है। अन्य लोगों का प्रकाश अनन्त वृत्तियों में विखरा रहता है। वही पर संयम को प्राप्त एक योगी बैठा है और साधारण लोग भी बैठे हैं, उन्हें सब कुछ धुंधला प्रतीत होता है, लेकिन योगी सब कुछ स्पष्ट देखता है क्योंकि उसकी प्रवृत्ति पूर्ण प्रकाशवाली है। ऐसा योगी चाहते हुए तथा न चाहते हुए भी सब कुछ देखता रहता है। योगी संकल्प मात्र से ही दूर से दूर वस्तु या व्यक्ति की यथास्थिति के बारे में जान लेता है। भगवान बुद्ध ने संकल्प मात्र से अपने प्रथम एवं द्वितीय आचार्य उद्दक राम पुत्र तथा आलार कालाम की यथास्थिति जान ली तत्पश्चात् उन पांच भिक्षुओं के बारे में जिन्होंने बुद्ध को छोड़ दिया था जान लिया कि इस समय कहाँ पर है, कैसी स्थिति है जानकर उस निर्दिष्ट स्थान पर पहुंच गये तथा ज्ञान का प्रथम संदेश उन भिक्षुओं को दिया।

इसी प्रकार परमाराध्य गुरूदेव भगवान को समीपस्थ एवं दूरस्थ भक्तों तथा साधकों की मनःस्थिति तथा बाह्य स्थिति का ज्ञान रहता है। समय-समय पर समीपस्थ भक्तों तथा साधकों को अक्सर बताते रहते हैं। एक बार परमाराध्य गुरूदेव राजस्थान की यात्रा पर जा रहे थे जिस गाड़ी में जा रहे थे, उस गाड़ी में कुछ भक्त तथा साधक भी थे, गाडी चल रही थी। इतने में आश्रम के एक वरिष्ठ साधक को लक्ष्य करके गुरूदेव भगवान ने कहा कि अमुक साधक आश्रम में नहीं है। लौटकर भक्तों ने आते ही निर्देशित साधक के बारे में पूछताछ की पता चला कि विचरण में उसी दिन चले गये जिस दिन गुरूदेव भगवान ने बताया था। महर्षि पातंजलि का यही कहना है कि जिस योगी ने अपनी सम्पूर्ण वृत्तियों को निरोध करके समाधि की अवस्था प्राप्त कर लिया है। उस समय सम्पूर्ण वृत्तियाँ ईश्वर के प्रकाश से प्रकाशित हो जाती हैं। ऐसा योगी

दूरस्थ या समीपस्थ सूक्ष्माति सूक्ष्म वस्तुओं की यथा स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर लेता है अन्य सिद्धियों की तरह यह भी एक सिद्धि है। इसी क्रम में आगे देखें-

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्॥२६॥

सूर्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान योगी को हो जाता है। अनेक शास्त्रों में सौर्य मण्डल सहित वनस्पतियों के गुण-दोषों की सम्पूर्ण जानकारी बिना किसी उपग्रह तथा प्रयोगशाला के ऋषियों ने इसी समाधि जनित संयम के द्वारा प्राप्त की है। आज करोड़ों की लागत से बने उपग्रह एवं प्रयोगशाला में उतनी सफलता विज्ञान को नहीं मिली, जितनी ऋषियों ने संसार को संयम के द्वारा प्रदान किया है। अभी तक कोई उपकरण सूर्य मण्डल का भेदन नहीं कर सका और न भविष्य में ही सम्भव है, संयम के माध्यम से इस असम्भव को भी सम्भव करके ऋषियों ने दिखाया है क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि परमात्मा से व्याप्त है, जिसे प्राप्त करके योगी कठोर से कठोर प्रकाशमान से भी प्रकाशमान तथा ज्वलनशील से भी ज्वलनशील का भेदन करके उसके रहस्य को जान लेता है, जो किसी के देखने में कभी नहीं आ सकती। योगी उसे भी देखने की क्षमता प्राप्त कर लेता है।

शास्त्रों में जिस सूर्य की चर्चा है वह चलता है। उसके रथ का सारथी गरूड़ का बड़ा भाई अरूण है। वैज्ञानिकों का कहना है कि सूर्य स्थिर है दुनिया की कोई भी कठोर धातु उसकी परिधि में जाते ही पिघल जाएगी, लेकिन सारथी अभी तक पिघला नहीं न रथ ही जला।

मास दिवस कर दिवस भा मरम न जाना कोय।
रथ समेत रवि थाकेऊ निसा कवन विधि होय॥

सिंहिका का पुत्र राहु सूर्य को पकड़ता है तो सूर्य ग्रहण होता है, ऐसा शास्त्रों में वर्णन है, संगदोष से उत्पन्न संस्कार एक अज्ञान है। यह अज्ञान ही आत्मा को ढक लेता है इसी को अज्ञान द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, कहा गया है। महापुरूषों ने इस अज्ञान को दूर करने के लिए वैराग्य तथा सतत् अभ्यास के द्वारा नष्ट करने को कहा है। नाम, जप श्वॉस पर आधारित है। ऋषियों ने दाहिनी श्वॉस को सूर्य, गंगा, पिंगला तथा बाई श्वांस को चन्द्र, जमुना तथा इंगला कहा है ''चाँद सूरज सम दियना बहुत है ता विच भूली डगरिया।

''इगला, पिगला ताना भरनी'' इस सूर्य पर संयम कर लेने से जो आत्मा (प्रकाश) में आवरण आ गया था वह हट जाता है, तब दस इन्द्रिय और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इन चौदह भुवनों की कार्य प्रणाली तथा इनके परिणाम का ज्ञान हो जाता है, साथ ही यह संस्कार कितने प्रकार के शरीरों का कैसे निर्माण करते हैं ज्ञान हो जाता है। यह एक शरीर एक भुवन है, **''जेहि हृदय भुवन प्रभु तोरा, तहाँ आई बसै बहु चोरा''** संग दोष से उत्पन्न संस्कार एक-एक शरीर में आत्मा को बांधते हैं। यह आत्मा कितने भुवनों की यात्रा करती है। सूर्य में (स्वरूप में) स्थिति के साथ इसका सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है। ऐसा ज्ञान मिलने पर ही महापुरूषों ने साधना पर बल दिया है क्योंकि बिना इस संयम के भुवनों का ज्ञान तथा इससे छुटकारा संभव नहीं है। इसी क्रम में आगे देखें-

चन्द्रे तारा व्यूह ज्ञानम्॥२७॥

चन्द्रमा में संयम करके, समस्त तारा मण्डल (समूह) का ज्ञान हो जाता है।

जैसा कि वैज्ञानिकों का मानना है कि आकाश में दिखाई देने वाले छोटे-छोटे प्रकाश पुंज सूर्य से सैकड़ों गुना बड़े हैं तथा कुछ प्रकाश पुंज पृथ्वी से इतना दूर है कि उनका प्रकाश अभी तक पृथ्वी में नहीं आ पाया है जबकि प्रकाश की गति सबसे तेज है इसकी गति से ग्रह उपग्रहों की दूरी मापी जाती है, जो सूर्य से सैकड़ों हजारों गुना बड़े हैं। उन्हें तारा कैसे कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोंण से सूर्य भी एक तारा है **''अहंकार शिव बुद्धि अज मन शशि चित्त महान'' ''चन्द्रमा मनसो जातो''** मन ही चन्द्रमा है, इस बहिर्मुख मन को योग साधना द्वारा अन्तर्मुख करके समाधि रूप संयम को प्राप्त योगी तारा व्यूह अर्थात् त्याग के समूह का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

''बिथुरे नभ मुक्ता हल तारा'' नभ कहते हैं शून्य को। यही ध्यान की अवस्था है यह त्याग ही चित्त को शून्य अवस्था में पहुंचाकर मुक्ति का हेतु बनता है, मुक्ति को हल करता है। ईश्वर पथ में भोगों से सर्वथा अनासक्त होकर सतत् योगयुक्त होने पर ही पूर्ण सफलता सम्भव है, चित्त तभी निर्विकार होता है। बहिर्मुख संकल्पों के त्याग से, जो चित्त की निर्मलता में बाधक है उन सबका त्याग करके ही योगी समाधि रूप संयम को प्राप्त करता

है, इसी त्याग के समूह का अर्थात् त्याग की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान होता है।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञाना ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानत्कर्म फल त्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥१२/१२॥

अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यान से कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है क्योंकि त्याग से तत्काल परम शान्ती अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति होती है।

महर्षि कहते हैं ज्यों-ज्यों साधक भोगों का त्याग करता है अर्थात् भोगों से अपने चित्त को समेटता है। इस प्रकार त्याग का स्तर बढ़ता जाता है, जितना त्याग बढ़ेगा उतना ही चित्त की एकाग्रता बढ़ेगी। चित्त की यह एकाग्रता ध्यान में परिणित होती है, यही ध्यान समाधि में बदल जाता है, यह चित्त का पूर्ण संयम कहलाता है। लेकिन त्याग कैसे-कैसे करना है, संयम को प्राप्त योगी ही समझता है। साधक सर्वप्रथम शरीर से सांसारिक भोगों का त्याग करता है, लेकिन मन में भोगों के प्रति आसक्ति रहती है। मन जब भली प्रकार भजन में प्रवत्त हो जाता है तो भोगों का मन से त्याग हो जाता है तत्पश्चात् संस्कारों का त्याग होता है। सम्पूर्ण संस्कारों की निवृत्ति ही तो मोक्ष है। ऐसा साधक तत्काल परम शान्ति को प्राप्त होता है तत्पश्चात् वह महापुरूष त्याग के साथ ही इस संसार में बर्तता है। उसके लिए ईश्वर को छोड़कर संसार में कुछ होता नहीं है।

ईशा वास्यमिदसर्वं यात्किंच जगत्यां जगत।
तेन व्यक्तेन भुज्जीथा मा ग्रधः कस्य सिद्वधनम्॥

ईश्वर को जानने के बाद उसकी रचना जहाँ तक है, उसकी जानकारी योगी को स्वतः हो जाती है, अन्तर्जगत के साथ ही बाह्य जगत का भी ज्ञान योगी को हो जाता है। इसलिए वैदिक ऋषियों ने कहा है कि जिसे जान लेने से सब कुछ जाना जाता है उसे जानो। अब संयम की अन्य उपलब्धि को देखें-

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्॥२८॥

ध्रुव में संयम करने से उसकी गति का ज्ञान हो जाता है।

ध्रुव (सत्य), अध्रुव (असत्य) को कहा गया है। यदि ध्रुव तारा है तो पिछले सूत्र में है कि चन्द्रमा में संयम करने से तारा के व्यूह का ज्ञान हो जाता

है, यहां पुनः इस प्रसंग की क्या आवश्यकता है। भगवान बुद्ध ने कहा जो अध्रुवों में ध्रुव की खोज करता है वह आर्य है, ध्रुव जो एक मात्र सत्य परमात्मा है। प्रकृति परिवर्तनशील एवं असत्य कही गई है उस सत्य में मन का भली प्रकार स्थिर होकर समाधिस्थ होने पर उसकी गति का ज्ञान होता है। वह कैसे कर्ता है, कैसे अकर्ता है, किस प्रकार संसार में व्याप्त होने पर भी उससे अलग है, कैसे कैसे वह 'एकोऽहं वहूस्यामि' होता है और बहुत से एक होता है, उन सब गतियों को योगी संयम की अवस्था में जान लेता है।

महर्षि पातंजलि का मात्र इतना कहना है कि संयम की अवस्था में योगी को कौन-कौन सी उपलब्धि प्राप्त होती है। ऐसा नहीं की अलग-अलग कोई संयम का विधान है, एक-एक वृत्ति को क्रम से जीतना है। सम्पूर्ण वृत्तियों पर विजय के साथ ही समाधि की अवस्था आती है। अब संयम के अन्य परिणाम के बारे में देखें-

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्॥२९॥

नाभि चक्र में संयम करके काया के समूह का ज्ञान होता है। जिस प्रकार शरीर का केन्द्र नाभि को माना गया है, उसी प्रकार स्रष्टि का केन्द्र परमात्मा है। योग के अभ्यास से जब योगी अपने मन को परमात्मा में स्थिर करने लगता है तभी संस्कारों का समूह जो पिण्डरूप में अनन्त शरीरों का निर्माण करता हैं, उनका ज्ञान होने लगता है। इसी क्रम को कोई-कोई कुण्डलिनी जाग्रति कहते हैं। शरीर का चीर फाड़ करने वालों ने शरीर के अन्दर न कोई नागिन पाई जो कुण्डली लगा के बैठी हो, नाही कोई कमल मिला जिसमें कोई देवता आसन लगा के बैठा हो, इन सभी अवस्थाओं को योगियों ने संयम की अवस्था में प्रत्यक्ष देखकर बताया है।

भजन श्वॉस पर ही होता है, श्वॉस ब्रह्म रंध्र से होकर मेरूदण्ड से होती हुई मूलद्वार (मूलाधार) के पास से नाभि तक जाती है, यदि कोई संकल्प आ गया तो श्वॉस का यह क्रम टूट जाता है। जब यह प्रक्रिया सतत् बिना अवरोध के होने लगती है तो योगी समाधि अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इस नाम के अभ्यास में मन ब्रह्मरंध्र से होते हुए नाभि तक बार-बार आते जाते शून्य की अवस्था में पहुंच कर समाधि को प्राप्त होता है, यही नाभि का संयम कहा गया है। इस संयम से काया की व्यूह रचना इसमें कितनी नस-नाडियां है

जान लेता है, साथ ही अनन्त संस्कार जो आत्मा को पिण्ड रूप प्रदान करते है उन सबको जान लेता है।

योगियों ने किसी मीटर से शरीर की नसों को नहीं नापा। उस समय मीटर जैसा कोई पैमाना नहीं था, लेकिन इसी अवस्था में उन योगियों ने शरीर की रचना किन कारणों से होती है तथा इसकी आंतरिक रचना कैसी है, यह क्रम कब तक रहता है इन सबको जाना।

संयम प्राप्त योगियों का कहना है इस शरीर में बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ है, जिसे रामायण में रावण के पुत्रों के रूप में दर्शाया गया है कि एक ही दिन रावण के पुत्र नारान्तक इत्यादि बहत्तर करोड़ पैदा हुए थे। योगियों का कहना है कि शरीर में जितनी नसें हैं यदि उनको क्रम से जोड़ दिया जाय तो इस पृथ्वी को सात बार लपेटा जा सकता है, यह शरीर एक चलता फिरता सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। अब संयम के अगले क्रम में देखें-

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः॥३०॥

कंठ कूप में संयम करने से भूख और प्यास से निवृत्ति हो जाती है।

योगियों ने योगपथ पर चलकर जो अनुभूतियां प्राप्त की हैं, उन्हें स्थूल दृश्यों के माध्यम से दर्शाकर जिज्ञासुओं को चलने के लिए प्रेरित किया है। जब ईश्वर की चर्चा की तो सूर्य के प्रकाश की उपमा दी (आदित्य वर्णः) कहा। जबकि अर्जुन ने जो अनुभूति प्राप्त की उसमें करोड़ों सूर्यों में उतना प्रकाश नहीं है जो ईश्वर में है। इसी प्रकार यह सभी सूत्र हैं। सूत्रकार ने कहा कि कंठ कूप में संयम करने से भूख प्यास नहीं लगती, यदि ऐसा सम्भव होता तो खाद्यान्न समस्या से जूझने वाले सभी देश इस सूत्र को अमल में लाकर भुखमरी के शिकार नहीं बनते तथा एक बहुत बड़ी समस्या से छुटकारा पा जाते साथ ही खाद्यान्न उत्पादन की समस्या सदैव के लिए हल हो जाती। पाठ्यक्रम में प्रतिदिन एक घंटा इस सूत्र का अभ्यास कराकर, सभी भूख प्यास से छुटकारा पा जाते, आपस में कभी झगड़े नहीं होते सभी लोग सम्पन्न होते क्योंकि संसार में सभी पेट के लिए ही तो कमा रहे हैं, लेकिन ऐसा सम्भव नहीं है। यह योग पथ में मिलने वाली एक उपलब्धि है, जब साधक ईश्वर की तरफ उन्मुख होता है तो कभी-कभी संसार के भोगों के प्रति आकर्षित होकर पथ

भ्रष्ट हो जाता है। यदि भोगों का परिणाम जानकर उस पर भली प्रकार विचार करता है तो साधक का मन भोगों से सिमटने लगता है। यह भोगों को पाने की जो भूख है वह कम होने लगती है। अभ्यास परिपक्व हो जाने से पूर्णतया भूख प्यास से निवृत्ति हो जाती है। ऐसे साधक फिर कभी भोगों की न कामना करते हैं, न उनमें फंसते ही है। जब तक योगी के अन्दर दृढ़ता नहीं आती तब तक उसका मन विचलित होता रहता है, इसलिए इसे कंठस्थ होना चाहिये। जब तक कंठ में स्थित नहीं होगी अर्थात् पूर्ण स्मृति के साथ साधक जब तक नहीं लगेगा तब तक भोग संबंधी भूख प्यास उसे अपने रास्ते से विचलित करते रहेगें।

संसार का श्रेष्ठ से श्रेष्ठ भोग अंत में दुख का कारण बनता है। ऐसी भावना दृढ़ होना ही कंठ में स्थित होना है। भली प्रकार स्थिरता आने पर वह इस दोष से निवृत्त हो जाता है। विश्वामित्र ने श्रीराम एवं लक्ष्मण को यही विधि बताया।

जाते लागि न क्षुधा पिपासा। अतुलित बल तन तेज प्रकाशा।।

प्रत्येक महापुरूष के पास यह विधि होती है स्वयं इस विधि पर चलकर भूख प्यास से निवृति पाई है। साधक के अन्दर स्थिरता कैसे आये क्योंकि बिना स्थिरता के भूख-प्यास से निवृत्ति तथा ध्यान, समाधि, असंभव है। इसी संयम पर प्रकाश डालते हैं-

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्।।३१।।

कछुवे की आकार वाली नाड़ी में संयम करने से स्थिरता आती है।

योग पथ में मन को स्थिर करने के लिए साधक सतत् प्रयत्नशील रहता है। सूत्रकार कहते हैं कि कूर्म नाड़ी में संयम करने से स्थिरता आती है, जबकि शरीर में ऐसी कोई नाड़ी नहीं है। यह तो मात्र एक उदाहरण है, अर्जुन द्वारा स्थित प्रज्ञ का लक्षण पूछने पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि खतरे को देखकर जैसे कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है ऐसे ही विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों को अपने विषयों से हटाकर योगी अपने हृदय में समेट लेता है तो उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

यदा संहरते चापं कूर्मोऽंगानीव सर्वशः।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥अ.२/५८॥

संयम रूप समाधि को प्राप्त करने के लिए योगी बाहर विचरती हुई इन्द्रियों को समेटकर बार-बार परमात्मा में मन लगाता है इस प्रकार सतत् अभ्यास के फलस्वरूप उसका मन पूर्णरूप से स्थिर हो जाता है, ऐसा स्थिर मन ही समाधि में परिणित हो जाता है। समाधि पर्यन्त साधक को मन सहित इन्द्रियों को कछुआ की तरह समेटना है, सिमटा हुआ मन ही स्थिर होता है। अब संयम के द्वारा प्राप्त अन्य लाभ के संबंध में देखें-

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्॥३२॥

मूर्धा ज्योति में संयम करने से सिद्ध पुरूषों के दर्शन होते हैं। मूर्धा को अनेक विद्वान ब्रह्मरन्ध्र भी कहते हैं। जीवन के अंतिम क्षणों में या मध्य में इसी ब्रह्मरन्ध्र को फोड़कर ईश्वर प्राप्त करने की एवं मुक्त होने की सरल विधि हजारों साल पुरानी है, लेकिन यह एक भ्रम मात्र है, **''बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धान्त अपेल'' (रामचरित मानस)** समाज में अत्यधिक विद्वान व्यक्ति को मूर्धन्य विद्वान अर्थात् चोटी का विद्वान कहते हैं। मूर्धा ज्योति अर्थात् ईश्वरीय प्रकाश की पराकाष्ठा में उच्चावस्था के संतों के दर्शन होते हैं, प्रकाश में ही दिखता है, अंधेरे में नहीं। अनुभव में जिस प्रकार के मैले कुचैले एवं उज्जवल साफ-सुथरे दृश्य आते हैं, सभी दृश्यों से साधक की अवस्था ज्ञात होती है। इसी प्रकार सिद्धों के दर्शन से योगी को स्वयं की स्थिति का भी ज्ञान होता है।

प्रत्येक निशाचर के वध के बाद आकाश मार्ग से सभी सिद्ध पुरूष आकर भगवान राम को दर्शन देकर मंगल कामना करते थे। ऐसे ही श्रीकृष्ण के साथ हुआ, ऐसे ही भगवान बुद्ध एवं महावीर के साथ होता था। प्रत्येक योग पथ के पथिक के साथ ऐसा होता है। भगवान राम ने लक्ष्मण के साथ कई ऋषियों के आश्रम में ऋषियों से मिलते हुए इन्द्रादि देवताओं सहित अनेक सिद्ध पुरूषों को देखा।

एक बार पूज्य परमहंस जी महाराज ने संकल्प किया कि वर्तमान में कितने महापुरूष हैं? भगवान ने उन्हें स्पष्ट दिखाया, विचरण में भी कई बार ऐसी घटनाएं अनायास घटी। एक समय वाराणसी में गंगा नदी पर ही नौका पर

रहने वाले हरि हर बाबा को शिव स्वरूप में देखा, भगवान ने कहा तुम्हें भी इसी स्वरूप को प्राप्त करना है। एक बार पूज्य परमहंस जी महाराज चित्रकूट अनुसुइया आश्रम से चलकर आगरा कुटी जमुना किनारे चले आये थे, कुछ समयोपरान्त अत्रि ऋषि वहाँ पहुँचकर उन्हें वहाँ से पुनः चित्रकूट अनुसुइया ले आये। पूज्य परमहंस जी महाराज कहने लगे आपने क्यों कष्ट किया आप वहीं से संकल्प कर लेते मैं आ जाता।

यही महर्षि पातंजलि कहते हैं कि ईश्वरीय प्रकाश की पराकाष्ठा में सिद्धों के दर्शन होते हैं, समाधि की इस सतत् अवस्था में परमसिद्ध परमात्मा के दर्शन के साथ स्थिति प्राप्त हो जाती है। योगी की निवृत्ति अर्थात् वृत्तियों से पूर्णतया रहित हो जाना है। इसी क्रम में आगे देखें-

प्रातिभाद्वा सर्वम्॥३३॥

प्रातिभ ज्ञान प्राप्त होने पर योगी पूर्ण प्रतिभा सम्पन्न होकर सार्वभौम हो जाता है, सब कुछ जान लेता है।

मूर्धा ज्योति में सयंम के प्राप्त होते ही योगी को ईश्वर दर्शन की सम्पूर्ण योग्यताएँ प्राप्त हो जाती हैं ईश्वर दर्शन के सम्पूर्ण लक्षण प्रकट होने लगते हैं, जैसे सूर्योदय से पूर्व उसके आस-पास की लालिमा से सूर्योदय की निश्चित जगह ज्ञात हो जाती है। योगी की इस अवस्था को प्रातिभ ज्ञान कहते हैं। इसका उल्लेख महर्षि ने इसी पाद के छत्तीसवे सूत्र में किया है।

प्रातिभ ज्ञान के समय चित्त की क्या स्थिति होती है? इस पर कहते हैं-

हृदये चित्तसंवित्॥३४॥

हृदय देश में भली प्रकार स्थिर शान्त चित्त से उसकी विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान होता है।

इसको आगे कैवल्य पाद के पांचवे सूत्र में स्पष्ट किया है **''प्रवत्ति भेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्''** मूल चित्त एक ही है, उससे अनेकों चित्तों का निर्माण कैसे होता है, योग के सतत् अभ्यास से समाधि रूप संयम में सभी चित्त नष्ट होकर मूल चित्त भी कैसे विलय होता है, हृदय में भली प्रकार निरोध चित्त द्वारा योगी को यह ज्ञान हो जाता है। भली प्रकार हृदय में सिमटा हुआ चित्त समवित होता है। परमात्मा सम है, शान्त है, स्थिर है उसे जानने

योग्य होता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता के पंद्रहवे अध्याय के प्रथम श्लोक में कहा है कि मूल परमात्मा शाखा प्रशाखा तथा पत्ते जो वेद के छन्द हैं, जो इस संसार रूपी पीपल के वृक्ष को जानता है वह वेदवित है। महर्षि कहते हैं हृदय में भली प्रकार सिमटा हुआ चित्त समवित है।

समवित चित्त योग की पराकाष्ठा है। इस समय साधक के अन्दर कौन सा गुण कार्य करता है उससे कैसे उपराम हों? इस पर कहते हैं-

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्याविशेषो भोगः
परार्थान्यस्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्॥३५॥

सतोगुण में पुरूष की मिली हुई यह अत्यन्त संकीर्ण अवस्था भी एक वृत्ति विशेष है। यहाँ तक भोग है, इससे ऊपर उठने के लिए परार्थ एवं स्वार्थ में संयम करने से पुरूष का ज्ञान होता है।

यह सम्पूर्ण जगत तीनों गुणों का विकार है। योगेश्वर श्री कृष्ण ने कहा कि अर्जुन सतोगुण के कार्यकाल में जो शरीर का त्याग करता है वह उत्तम लोकों को रजोगुण के कार्यकाल में शरीर का त्याग करने वाला, मध्यम लोकों को तथा तमोगुण के कार्यकाल में शरीर का त्याग करने वाला, अधम लोकों अर्थात् पशु-पक्षी कीट-पतंगादि निकृष्ट योनियों को प्राप्त होता है, इसलिए तीनों गुणों से ऊपर उठो **''निस्त्रैगुण्यो भवाऽर्जुनः॥''**

यह पुरूष (आत्मा) जिस गुण के साथ रहता है उसकी वृत्ति के अनुसार वैसा ही अपने को समझने लगता है। योग क्रिया के सतत् अभ्यास से क्रमशः उत्थान होते-होते योगी तीनों गुणों से उपराम हो कर स्वरूप (पुरूष) की प्राप्ति करता है, जब तक तीनों गुणों में से कोई भी गुण शेष है तब तक निवृत्ति कैसी, मोक्ष कैसा। सतोगुण के कार्यकाल में शरीर छूट गया तो भोगों को भोगने के लिए जन्म लेना पड़ेगा। सतोगुण तो है सर्वोच्च गुण क्योंकि इसी गुण में परमात्मा की प्राप्ति के सम्पूर्ण लक्षण योगी में विद्यमान होते हैं। यह अवस्था भी एक वृत्ति विशेष है। यहाँ तक भोग पीछा करते हैं, योगी को तो निवृत्त होना है।

सत्व बहुत कछुरज रति कर्मा।
सब विधि सुखत्रेता कर धर्मा॥
शुद्ध सत्व समता विज्ञाना।

कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना।।

''कृत युग सब योगी विज्ञानी'' (रामचरित मानस)

महर्षि पातंजलि कहते हैं कि सतोगुण में जो पुरूष का मिश्रण हो रहा है परार्थ एवं स्वार्थ में संयम करके पुरूष को सर्वथा अलग करके उसका ज्ञान प्राप्त करो। वास्तव में योग की इस पराकाष्ठा को प्राप्त योगी ही जानता है कि यह पुरूष (आत्मा) कैसे-कैसे गुणों में बंधकर उनके सदृश्य दिखता है, कैसे-कैसे किस अवस्था में वह इनसे अलग होकर अपने शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति करता है। पुरूष को सतोगुण से प्रथक करने के लिए परार्थात् परः+अर्थ+इति अर्थात् सबसे परे परमात्मा है, उसकी प्राप्ति, वही योगी का (स्व) अपना वास्तविक अर्थ है यही स्वार्थ है स्व+अर्थ इस धन का कभी विनाश नहीं है। जब तक सतोगुण के भोग है तब तक ध्यान समाधि का सतत् अभ्यास करते हुए संयम की पराकाष्ठा में सबसे पृथक इस पुरूष का ज्ञान प्राप्त करना है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इसी अवस्था में पहुँचकर ही अर्जुन को बताया कि तीनों गुणों सहित यह प्रकृति मुझसे उत्पन्न हुई है, यह मुझमें है, लेकिन मैं इसमें नहीं हूँ मैं सर्वथा निर्लेप हूँ, यही पुरूष का ज्ञान है, कि वह सबसे परे है। जब तक प्रकृति है तीनों गुण हैं तब तक ऐसा दिखाई नहीं देगा। इसके लिए योग साधना करना पड़ेगा।

पुरूष ज्ञान से योगी की क्षमता कैसे हो जाती है, इस पर क्रमशः प्रकाश डालते हुए कहते हैं-

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते।।३६।।

प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद तथा वार्तादि सिद्धियां प्रकट होती हैं।

पुरूष ज्ञान के साथ योगी को (प्रातिभ) बिना क्रम के सब कुछ जानने की क्षमता, (श्रावण) अत्यन्त दूर की बात सुनने की क्षमता, (आदर्श) अत्यन्त दूरस्थ वस्तुओं को, परिस्थितियों को यथावत् देखने की क्षमता प्राप्त होना तथा (वार्ता) अत्यन्त दूरस्थ गन्ध का ज्ञान प्राप्त होता है।

१. प्रातिभ ज्ञान से महापुरूष बिना किसी क्रम के जब चाहे, नजदीक या

दूर की प्रत्येक वस्तु को भीतर बाहर से जान लेता है, यह महापुरूष की एक विशेष प्रतिभा होती है। इसलिए इसे प्रातिभ ज्ञान कहते हैं।

२. श्रवण शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि योगी दूर से भी दूर के शब्द को आसानी से सुन लेता है, कौन दुख में पुकार रहा है, कौन सुख में, कौन श्रृद्धा से पुकार रहा है, कौन अश्रृद्धा से सबको स्पष्ट सुनता है। चाहे रूहानी आवाज हो या कोई भी आवाज है। यदि महापुरूष से संबंधित है तो वह सबको सुनता है और उनकी श्रृद्धा के अनुसार परिणाम भी देता है। **''गहन महल पिया गोहराइन''** कबीर साहब इस रूहानी आवाज को बड़ी तन्ययता से सुन रहे थे।

परमाराध्य गुरूदेव कभी-कभी अचानक चलते फिरते ही संकेत करते हुए कहने लगते है कि अमुक बुराई कर रहा है, अमुक प्रसंशा कर रहा है।

३. योगी की वेदन शक्ति इतनी वृहत्त हो जाती है कि वह स्वयं उसकी अनुभूति करता है तथा दूसरों को भी उसका अनुभव करा देता है। पूज्य परमहंस जी महाराज ने अपने एक मरणासन्न भक्त को सिर में स्पर्श करके उसे सांत्वना दिया जबकि उसके घर से बहुत दूर थे। इस स्तर के प्रत्येक महापुरूष में यह क्षमता पाई जाती है। यही वेदन है।

४. इस स्तर का प्रत्येक योगी दूरस्थ एवं समीपस्थ सभी वस्तुओं की यथास्थिति को स्पष्ट समझ लेता है। इसी के अनुसार वह संसार में बर्तता है। यही आदर्श है।

५. इस आस्वाद नामक सिद्धि से योगी सभी रसों की शुद्धि, अशुद्धि एवं निर्दोष अवस्था को जान लेता है। ग्राह योग्य रस एवं अग्राह योग्य रसों को स्पष्ट देखता है, महापुरूष की इस अवस्था को तथा ऐसा व्यवहार करते हुए पास में रहने वाला कोई कृपा पात्र ही समझता है। इसी प्रकार गन्ध इत्यादि विषयों को समझने की तथा स्पष्ट जानने की क्षमता योगी को प्राप्त होती है। प्रत्येक योगी इन अवस्थाओं से गुजरता है। अर्जुन ने भी अपने सद्गुरू श्रीकृष्ण की कृपा से दशम् एवं एकादश अध्याय में स्पष्ट देखा-

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्॥११/११

अपनी अलग पहचान बनाने की भावना से मनुष्य अनेकों प्रकार के

कर्म करता है। विविध अनुष्ठानों के माध्यम से रिद्धि-सिद्धि प्राप्त करने का अथक प्रयास भी करता है, लेकिन भगवत पथ के पथिक को ईश्वर का एश्वर्य जिसे विभूति या सिद्धियां भी कहते हैं स्वयं वरण करती हैं। यदि साधक इन सिद्धियों में उलझ कर यह सोचने लगे कि मैंने बहुत कुछ प्राप्त कर लिया तो लक्ष्य कभी नहीं मिलेगा वह इसी संसार चक्र में सदैव भटकता रहेगा। साधक भोगों की कामना से कहीं अलग-अलग संयम करके सिद्धि न प्राप्त करने लगे उसका अमूल्य जीवन बार-बार नष्ट न हो। इसलिए महर्षि सावधान करते हुए कहते हैं कि-

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः॥३७॥

वे सभी सिद्धियां समाधौ, पूर्ण समाधान पाने में अर्थात् निर्बीज समाधि की प्राप्ति में विघ्न है, साधन के उत्थान में यह सिद्धियां अवश्य हैं।

यदि योग साधना सुचारू रूप से सतत् चल रही है तो साधक की उन्नति के प्रमाण स्वरूप यह सम्पूर्ण सिद्धियां प्रकट होती हैं, लेकिन आत्मदर्शन में यह विघ्न है, इसलिए कल्याणकारी साधक इन सिद्धियों की तरफ आकर्षित नहीं होता है।

भागवत में भगवान ऋषभ देव की साधना का एक प्रसंग इसी से संबंधित है। भगवान ऋषभदेव की कठोर साधना में सभी ऋद्धि-सिद्धि क्रमशः आई लेकिन उन्होंने मन से उनका सम्मान नहीं किया। नारद जी ने पूछा भगवन जिन ऋद्धि-सिद्धि के लिए मुनि लोग सैकड़ों वर्ष कठोर तप करते हैं फिर भी नहीं पाते आपके पास स्वतः सभी सिद्धियां आयी। आपने इन्हें स्वीकार क्यों नहीं किया। भगवान ऋषभदेव ने कहा कि मुनिवर आत्म कल्याण के इच्छुक व्यक्ति के लिए यह सिद्धियां कुपथ्य के रूप में ही प्रस्तुत होती हैं। इसलिए वह इन्हें स्वीकार नहीं करता है। भगवान ऋषभदेव को सभी सिद्धियां जैसे जल में चलना, हवा में उड़ना, छोटा होना, बड़ा होना, हल्का होना, भारी होना, मन की बात जान लेना, दूर की घटनाओं को देख लेना, किसी का भी भूत भविष्य वर्तमान स्पष्ट देख लेना प्राप्त थी लेकिन इनका कभी मन से भी सम्मान नहीं किया। सभी आत्म कल्याण के पथिकों के वह आदर्श बनें। बहिर्मुख साधक के लिए यह वास्तव में सिद्धियां है, लेकिन ईश्वर दर्शन के अभिलाषी साधक के लिए यह सब विघ्न है।

सिद्धियों के इसी क्रम में आगे देखें-

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवदेनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः॥३८॥

समाधि अवस्था में जीवात्मा के बन्धन का कारण अस्मिता जनित विपाकाशय के शिथिल हो जाने से अर्थात् संस्कार अत्यंत क्षीण हो जाने से योगी का चित्त अत्यन्त संवेदनशील होकर परकाया प्रवेश की क्षमता प्राप्त कर लेता है।

यह भी एक प्रकार की सिद्धि है। इसी को दूसरे पाद के सैतालिसवें सूत्र में अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि-

''प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम्''।

जीवात्मा के बन्धन का कारण अनन्त जन्मों के संचित संस्कार हैं, साधना के प्रारंभिक स्तर में इनका वेग अधिक होता है। लेकिन सतत् अभ्यास के परिणामस्वरूप अपना परिणाम देकर यह शिथिल हो जाते हैं, साधना सहज हो जाती है। किसी का प्रचार उसकी जानकारी का विस्तार है। महर्षि कहते हैं कि चित्त की संवेदना संस्कारों से अलंकृत होने के कारण साधना के पूर्व सीमित रहती है। शिथिलता आने पर वह बृहत हो जाती है। ऐसा योगी संकल्प मात्र से कठोर से कठोर एवं ज्वलनशील से भी ज्वलनशील में बिना किसी रोक टोक के चित्त का प्रवेश कर देता है। पूज्य परमहंस जी महाराज के गुरू पूज्य सत्संगी महाराज अपने शिष्यों में चित्त का प्रवेश कर उनके मन का निरोध कर देते थे, ऐसी घटना एक बार पूज्य परमहंस जी महाराज के साथ घटित हुई। एक दिन उनका मन भजन में बहुत लगा। गुरूदेव के आने पर कारण जानना चाहा, गुरूदेव ने कहा कि मैं तुम्हारे मन को पकड़कर ध्यानस्थ हो जाता हूँ। यह जानकर पूज्य परमहंस जी महाराज ने विचार करके प्रार्थना किया कि गुरूदेव मुझे स्वयं क्षमता प्रदान की जाय जिससे मैं अपने मन को स्वतः रोक सकूं। गुरूदेव ने तथास्तु कहा और उस दिन से उनका मन स्वाभाविक लगने लगा। यह क्षमता प्रत्येक महापुरूष के अन्दर पाई जाती है इसीलिए उन्होंने समस्त शौर्यमण्डल एवं वनस्पति जगत के साथ समस्त ब्रह्माण्ड के सूक्ष्मति सूक्ष्म बिन्दुओं (रहस्यों) को स्पष्ट किया है।

समाधिरूप संयम में योगी के चित्त की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण

है, न कि अलग-अलग संयम द्वारा अलग अलग सिद्धि प्राप्त करना। समाधिरूप संयम की अवस्था में चित्त संस्कारों के भार से मुक्त होकर अत्यन्त सूक्ष्म होकर सूक्ष्माति सूक्ष्म तथा भारी से भारी वस्तु में प्रवेश की क्षमता प्राप्त कर लेता है।

इसके साथ-साथ उसमें और कौन-कौन सी विशेषता आती है। इस पर कहते हैं क्रमशः देखें-

उदानजयाज्जलपड.कण्टकादिष्वसंड.गउत्क्रान्तिश्च॥३९॥

उदान वायु को जीत लेने से कीचड, जल, कण्टक एवं मृत्यु योगी का स्पर्श नहीं करते हैं।

मुख्यतः पाँच प्राण हैं, जिनमें प्रधान एक प्राण ही है उसी को पाँच भागों में विभक्त कर दिया गया है। प्राण एवं अपान की संधि से व्यान की उत्पत्ति होती है, व्यान योगी के मन को उर्ध्वगामी बनाता है मन की इस उर्ध्वगामी अवस्था को उदान कहते हैं, मन की सतत् उर्ध्वगामी अवस्था समान वायु कहलाती है अर्थात् मन की सम, शान्त एवं पूर्णरूप से स्थिर अवस्था का नाम समान। परमात्मा जो सम है शान्त है उसमें मन के भली प्रकार स्थिर होने की अवस्था समान वायु कहलाती है। जिसका अग्रिम सूत्र में उल्लेख किया गया है। पूर्व सूत्र में महर्षि ने कहा कि बन्धन के कारण में शिथिलता आने से परार्थ एवं स्वार्थ में संयम करने से योगी को परम पुरूष का ज्ञान हो जाता है, इन्हीं अनन्त जन्मों के संस्कारों के बोझ से दबी हुई आत्मा (यही संस्कार जीवात्मा को अनन्त योनियों में बांधते हैं) जब इनसे छूट कर अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त होती है, अनन्त संस्कारों के भार से मुक्त आत्मा विषय-विकार रूपी कीचड़ एवं जल से अलग हो जाती है। जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार भोग ही तो वेदना का अनुभव कराते हैं, कांटा जब चुभता है तो वेदना होती है। ऐसी अवस्था का योगी सम्पूर्ण वेदनाओं से रहित हो जाता है।

महर्षि पातंजलि ने तो मात्र उदाहरण दिया है। जैसे अर्जुन के पूछने पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने जल में रहते हुए कमल का उदाहरण दिया है महापुरूष के लिए। यदि बाहर का जल कीचड़ एवं कांटा है तो बहुत से ऐसे जीव हैं जो बिना किसी योग साधना के जल के ऊपर चल लेते हैं। कीचड़ में भी चल लेते हैं तथा कांटों के ऊपर भी चल लेते हैं। इनके ऊपर मच्छर, मकड़ी इत्यादि

सैकड़ों जीव चलते फिरते सोते रहते हैं जबकि इन्होंने कोई समाधि लगाकर उदान वायु को नहीं जीता। सर्प अत्यन्त कटीली झाड़ियों में रखे हुए अण्डों को खा जाता है उसके शरीर में खरोंच भी नहीं लगती, यदि यह बाहर का कीचड जल एवं कांटे का स्पर्श न होने से कोई योगी बन सकता है तो सैकड़ों जीव भी इस श्रेणी में आते हैं।

एक बार एक ने योगी महात्मा बुद्ध के पास आकर उन्हें प्रभावित करते हुए बताया कि मैं आकाश मार्ग से चलकर आपके पास आया हूँ, थोड़ी देर में एक योगी और पहुँच गये, बोले ! आपका दर्शन करने के लिए नौका न मिलने के कारण मैं जल के ऊपर चलकर आया हूँ। भगवान बुद्ध ने बड़ी शान्ति से उन दोनों योगियों से पूछा कि यह सिद्धि आपको कितने वर्षों के बाद मिली है, उनमें से एक ने कहा तीस वर्ष में मैंने आकाश गमन की यह सिद्धि प्राप्त की है, दूसरे ने कहा मैंने जल के ऊपर चलने की सिद्धि बीस वर्ष में प्राप्त की है। भगवान बुद्ध बोले बीस वर्ष में आपने दो पैसे का भजन किया है क्योंकि कोई भी व्यक्ति दो पैसे देकर नाव में बैठकर गंगा पार कर लेता है। उसके पैर का स्पर्श कीचड़ पानी से नहीं होता है। (उस समय नाव में दो पैसे ही लगते थे) दूसरे योगी को सम्बोधित करते हुए भगवान बुद्ध ने कहा कि पंछी आकाश में बड़े वेग से उड़कर अपने-अपने गन्तव्य को बार-बार आते जाते रहते हैं। उन्होंने कोई सिद्धि नहीं प्राप्त की है तमोगुण के कार्य काल में जब शरीर छूटता है तो पशु-पक्षी, कीट पतंगादि योनियों में जन्म मिलता है। जन्म लेकर वह पक्षी स्वच्छन्द आकाश में विचरण करते है। संसार में कोई कुछ भी प्राप्त कर ले लेकिन दुखद योनियों से छुटकारा तब तक सम्भव नहीं जब तक योगी योग पथ की निर्धारित क्रिया का आचरण करते हुए समाधि द्वारा अपने स्वरूप को नहीं प्राप्त कर लेता है।

अब आगे समान वायु के जीतने पर योगी को क्या प्राप्त होता है। इस पर देखें-

समान जयाज्ज्वलनम्॥४०॥

शरीर के अन्दर मुख्य रूप से प्राण ही होता है यही मुख्य प्राण कार्य के अनुसार प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान पाँच भागों में बँट जाता है। समान वायु को जीतने पर योगी जाज्वल्यमान अर्थात् ईश्वरीय तेज को प्राप्त

कर लेता है।

प्राण अपान वायु का सम होना ही समान अवस्था है। प्राणायाम की यह सतत् अवस्था समाधि में परिणित होती है। यह समाधि ही संयम कहलाती है, चित्त में उठने वाले शुभाशुभ संकल्पों से रहित अवस्था को समान वायु का जीतना कहते हैं। जीतने से तात्पर्य योगी को इस अवस्था पर अधिकार के साथ अभिमान नहीं है।

जब तक एक भी संकल्प एवं संस्कार शेष है तब तक चित्त विषम रहता है सम नहीं। प्रत्येक संकल्प एवं संस्कार में आत्मिक प्रकाश रहता है, संकल्पों के अभावों के साथ आत्मिक प्रकाश बढ़ने लगता है। सम्पूर्ण संकल्पों के अभाव के साथ समाधि अवस्था में प्राण सम होता है न उसमें शुभ संकल्प होते हैं न अशुभ। पूर्ण निरोध के साथ अनन्त वृत्तियों में विभाजित आत्मिक प्रकाश के प्राप्त होते ही योगी परम तेजोमय हो जाता है, उसका तेज प्रकाशित हो जाता है। इस अवस्था में वह सम्पूर्ण ईश्वरीय तेज को प्राप्त कर दैदीप्यमान हो जाता है।

जाज्वल्यमान मात्र परमात्मा है। उसके अतिरिक्त सब अंधकार है। समाधि अवस्था में प्राण के सम होते ही योगी भी जाज्वल्यमान हो जाता है।

अब अग्रिम सूत्र में संयम द्वारा प्राप्त योगी की अन्य उपलब्धि के बारे में देखें-

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्ध संयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्॥४१॥

संयम द्वारा श्रोत्र अर्थात् सुनने की शक्ति और आकाश का संबंध होने से योगी के श्रोत्र दिव्य हो जाते हैं।

श्रोत्रेन्द्रिय का कार्य सुनना है। अनुकूल- प्रतिकूल शब्दों को सुनकर मन खिन्न अथवा प्रसन्न होता है। किसी ने सम्मान सूचक शब्द कह दिया तो मन प्रसन्न हो जाता है। कोई मधुर संगीत कान में पड़ गया तो प्रसन्नता होगी। अप्रिय शब्द से खिन्नता एवं द्वेष होगा। लेकिन योगाभ्यास करते-करते योगी समाधि अवस्था में प्रिय-अप्रिय के संयोग से उपराम होकर आकाशवत् हो जाता है अर्थात् शून्य हो जाता है। वह योग एवं भोग संबंधी प्रिय शब्द से न प्रसन्न होता है न अप्रिय शब्द से अप्रसन्न होता है।

एक बार भगवान बुद्ध विचरण करते हुए जा रहे थे। मौका पाकर देवदत्त ने चार-पाँच व्यक्तियों को जो क्रूर स्वाभाव के थे, धन का लालच देकर भगवान बुद्ध का अपमान करने के लिए भेज दिया। प्रतिकार करने पर मारने का भी आदेश दे दिया था। जिस मार्ग से बुद्ध आ रहे थे, वह क्रूर व्यक्ति आगे रास्ते में खड़े हो गये। जब भगवान बुद्ध पास आये तो वह अपशब्द कहने लगे, भद्धी-भद्धी गालियां देने लगे बुद्ध खड़े हो गये। एक घंटे तक वह लगातार गालियां देते रहे और बुद्ध अनुद्वेग चित्त से सब सुनते रहे। वह चाहते तो आगे निकल जाते या राजा से शिकायत करके उन्हें दण्डित करा देते क्योंकि उस समय राजा तो उनके पिताश्री ही थे। उन्होंने ऐसा कुछ भी नहीं किया अपितु शान्त चित्त से सब कुछ सुना। जब वह थक कर चुप हो गये, तो बुद्ध बोले ! भन्ते क्या आपकी वार्ता खत्म हो गई। उन व्यक्तियों ने कहा हम वार्ता कर रहे थे कि तुम्हें गाली दे रहे थे। भगवान बुद्ध ने कहा बात एक ही है। मैंने आप लोगों की बातें एक घंटे से अधिक सुनी हैं। आप केवल थोड़ी देर मेरी बातों को उतना ही ध्यान से सुन लो। वह तैयार हो गये। भगवान बुद्ध ने नश्वर भोगों की तथा नश्वर जीवन की चर्चा करके उसके लिए अनेकों उपायों का आश्रय लेने वाले मनुष्यों की वृत्तियों पर प्रकाश डालकर उसके परिणाम पर ध्यान दिलाया जिसे सुनकर वह बहुत शर्मिन्दा हुए। वास्तविकता बताकर क्षमा मांगी और सदैव के लिए शरण में रखने की प्रार्थना किया। भगवान बुद्ध ने उन्हें भिक्षु बना लिया।

भगवान बुद्ध को कड़वे शब्द व्यथित नहीं कर सके क्योंकि उनका मन प्रिय-अप्रिय में सम था। समाधि को प्राप्त कर वह सम्पूर्ण भोगों से उपराम थे। योगपथ का प्रत्येक पथिक इस अवस्था के साथ प्रिय-अप्रिय के संयोग से रहित हो जाता है। ऐसा आकाशवत् योगी सब देखता है। सब सुनता है, लेकिन अच्छे बुरे दृश्यों एवं शब्दों का उसके मन पर कोई प्रभाव नही पड़ता है। इस निर्विकार अवस्था में वह सब कुछ स्पष्ट सुनता है। कौन क्या कह रहा है, कौन श्रृद्धा से प्रार्थना कर रहा है, कौन ऊपरी मन से, कौन श्रृद्धा से प्रसंशा कर रहा है। कौन निन्दा कर रहा है, मन के अन्दर भी यदि कोई कुछ कह रहा है तो वह योगी उसे भी सुन रहा है क्योंकि समाधि के साथ योगी की मन सहित समस्त इन्द्रियां आकाशवत् होती हैं। आकाशवत् होने के साथ ही वह आकाश की तरह

व्यापक एवं निर्लेप हो जाता है। इसी को वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि जब 'प्राण' श्रोत्र को आकाश में ले जाकर स्थित कर दिया तो वह दिशा बन गये अर्थात् दसो दिशाओं में व्याप्त हो गये। इसी क्रम में आगे दूसरे संयम के बारे में देखें-

कायाकाशयोः संबंध संयमाल्लघुतूल समापत्तेश्चाकाश गमनम्॥४२॥

काया का आकाश से संबंध रूप जो संयम है, उसकी अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था होने पर योगी आकाश गमन की क्षमता प्राप्त कर लेता है।

आकाश में उड़ने वाले कीड़े, मकोड़े, पतंगे, पक्षी इत्यादि किसी जीव ने योग साधना करके समाधि रूप संयम को नहीं प्राप्त किया है, वह बिना योग साधन एवं समाधि के दूर विदेशों तक विचरते हैं। इन कीड़ों-मकोड़ों एवं पक्षियों को बिना योग साधन के ही आकाश गमन की क्षमता प्राप्त है। आखिर महर्षि पातंजलि योग में प्रवत्त करके योगी को देना क्या चाहते हैं, कहना क्या चाहते हैं?

अनन्त जन्मों के शुभाशुभ संस्कार पिण्ड रूप में चिदाकाश में पड़े रहते हैं, एक संस्कार एक शरीर के रूप में जन्म देता है। इन्हीं संस्कारों के भार से दबी हुई आत्मा अनन्त शरीरों की यात्रा करती है। धारणा, ध्यान एवं समाधि का अभ्यास करते-करते जब योगी आकाशवत् हो जाता है जहाँ शुभाशुभ किसी प्रकार का कोई संकल्प नहीं होता है। ऐसी अवस्था में योगी की आकाश गमन अवस्था होती है, वह **''शून्ये आइल शून्यै गइली शून्य भई परवेशी, कहत कबीर सुनो भाई साधो कमी रही न वेशी''** वह योगी सदैव शून्य (आकाश) में ही गमन करता है अर्थात् सम्पूर्ण संकल्पों से उपराम हो जाता है।

योग क्रिया द्वारा योगी ज्यों-ज्यों चित्त को समेटता जाता है संस्कार जो आत्मा को अनन्त शरीरों में बांधते हैं, मिटते जायेगें। अत्यंत क्षीण होने पर चित्त की सूक्ष्मावस्था में अवरोध रहित होकर योगी आकाशगमन करता है।

जब योगी समाधि रूप संयम द्वारा आत्मा के ऊपर पड़े अनन्त काया रूपी संस्कारों को मिटा देता है। उस समय योगी की कौन सी अवस्था होती है

इस पर कहते हैं-

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः।४३।

आत्मा (प्रकाश) में जो संस्कार रूप आवरण पड़े हैं उनके क्षय हो जाने पर महा विदेहा अवस्था प्राप्त होती है, ऐसी अवस्था बौद्धिक कल्पना (बहिरकल्पिता) से परे है।

योग साधना में जितना संकल्पों (वृत्तियों) का निरोध होता जायेगा उतना ही संस्कार रूप आवरण क्षीण होता जायेगा। एक संकल्प का निरोध एक संस्कार का निरोध करना है, एक संस्कार मिटने का अर्थ है आत्मा को एक शरीर से छुटकारा दिलाना, एक देह से मुक्त होकर विदेह होना है। इस प्रकार क्रम से अभ्यास करते हुए योगी जब सम्पूर्ण वृत्तियों के निरोध के साथ सम्पूर्ण संस्कार रूप आवरण को हटाने में सफल हो जाता है तो आत्मा क्रमशः एक-एक देह से मुक्त होते हुए योगी महाविदेहा अवस्था को प्राप्त होता है अर्थात् आत्मा समस्त देह संस्कार से छूट जाती है। यह योग बौद्धिक कल्पना का विषय नहीं है, इसमें क्रमशः चलकर जानने का विधान है। इसलिए इस अवस्था को बहिर अकल्पित वृत्ति कहा गया है।

योग साधना द्वारा क्रम-क्रम से एक-एक शरीर से छुटकारा पाते हुए योगी महाविदेहावस्था अर्थात् सम्पूर्ण शरीरों से क्रमशः कैसे छुटकारा पाता है इस पर कहते हैं-

स्थूल स्वरूप सूक्ष्मान्वयार्थत्त्व संयमाद् भूतजयः।।४४।।

स्थूल और सूक्ष्म शरीर में पृथक-पृथक संयम करने से समस्त भूतों में जय प्राप्त होती है।

समाधि को प्राप्त होने में किसी भी प्रकार का संकल्प बाधक है। इसलिए सर्वप्रथम जहां तक स्थूल जगत में आसक्ति है, ममत्व है उसका त्याग, यहाँ तक की अपने शरीर के प्रति आसक्ति भी समाधि में बाधक है। इसलिए इसकी भी आसक्ति का त्याग तत्पश्चात् सूक्ष्म शरीर में स्थित भोगों के प्रति राग को योग के सतत् अभ्यास से नष्ट करके सम्पूर्ण भूतों पर जय प्राप्त करके महा विदेहा अवस्था को प्राप्त करना है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि भोगों का चिन्तन

न करने वाले के भोग तो निवृत्त हो जाते हैं, लेकिन अन्दर उन भोगों के प्रति राग रहता है। मेरा भक्त मेरा दर्शन करके राग से भी निवृत्त हो जाता है।

जिस क्रम से शरीरों की एवं स्थूल जगत की रचना होती है, योग क्रिया के माध्यम से उसी क्रम से उनका विलय भी होता है। इस क्रमिक विलय प्रक्रिया को क्रमिक संयम भी कहते हैं।

स्थूल जगत के रचना क्रम में प्रथम आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। मन के माध्यम से यह पाँचों मिलकर एक शरीर का निर्माण करते हैं यह तत्व क्या हैं? कैसे हैं? यह प्रश्न अलग है। किसी तत्वदर्शी महापुरूष से समझें।

योग साधना में प्रवत्त साधक क्रमशः पृथ्वी को जल तत्व में, जल तत्व को अग्नि तत्व में, अग्नि तत्व को वायु तत्व में और वायु तत्व को आकाश तत्व में, आकाश तत्व को उसके कारण स्वरूप में विलय करके संयम रूप समाधि को प्राप्त होता है। योगी इसी क्रम से प्रत्येक संस्कारों से जो शरीर रूप में जन्म देते हैं, छूटते-छूटते समस्त संस्कारों से छूट जाता है। अनन्त दुख रूप योनियों के संस्कार सूक्ष्म शरीर द्वारा निर्मित होते हैं, इसलिए स्थूल संयम के साथ-साथ सूक्ष्म शरीर का भी संयम हो जाता है।

सम्पूर्ण जगत पाँच तत्व आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी तथा तीन गुण सत्, रज, तम का विकार है। सूक्ष्म शरीर के सहयोग से स्थूल जगत का निर्माण होता है। सूक्ष्म शरीर सोलह तत्वों का समूह है। नौ इन्द्रियां, मन, बुद्धि, चित्त अहंकार, तेजस, प्राज्ञ तथा जीवात्मा। महर्षि पातंजलि कहते हैं कि इनमें पृथक-पृथक संयम करना है अर्थात् प्रत्येक तत्व की उत्पत्ति तथा उसकी तन्मात्रा का कार्य एवं परिणाम पर भली प्रकार विवेक सहित विचार करके बोध प्राप्त करते हुए मन को निर्विकार अवस्था में लाकर समाधि रूप संयम को प्राप्त होना है।

उदाहरणार्थ शरीर कितना भी सुन्दर हो तथा इन्द्रियों के भोग कितने भी उत्तम हो, लेकिन एक दिन यह सुन्दर शरीर जर्जर होकर थोड़ी सी राख की ढेरी में बदल जाता है तथा समस्त भोग एक दिन दुख का कारण बनते हैं। परम शान्ति प्राप्त करने वाला योगी समस्त जगत की सुन्दरता पर एवं श्रेष्ठतम भोगों के सूक्ष्माति सूक्ष्म बिन्दु पर विचार करके सबसे अपने मन को पृथक कर लेता

है, सबसे पृथक मन ही समाधि को प्राप्त होता है।

साधना के आरंभ में मन स्वाभाविक ही भोगों की तरफ आकर्षित होता है। भोगों का संयोग होने पर मन और अधिक आकर्षित होकर चंचल हो जाता है, ऐसी अवस्था में साधक विवेक पूर्वक विचार द्वारा अपने मन को साधना में स्थिर करता है।

जैसे मन किसी सुन्दरता की तरफ आकर्षित हुआ तो उस पर विवेक से विचार करता है कि मन जिधर जा रहा है। उसमें ऐसा क्या है? विचारवान साधक क्रमशः उस शरीर के एक-एक अवयव पर गंभीरता से विचार करते-करते अंत में कूड़ा-करकट गंदगी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं पाता है। जैसे लोग घर का फर्श या चबूतरा तैयार करते है तो उसमें दुनिया भर का कूड़ा-करकट तथा मिट्टी पत्थर डालकर लेवल करके बाद में उसके ऊपर संगमरमर लगाकर चिकना कर देते हैं, संगमरमर के बने हुए सुन्दर कमरे में घर की समस्त अनुपयोगी वस्तुओं को भर देते हैं। बाहर से बंद कमरा सुन्दर अवश्य दिखाई देता है, लेकिन पूरे घर का कचड़ा उसी के अन्दर बन्द है। घर का कूड़ा दान कितना सुन्दर डिजाइनदार दिखता है, लेकिन घर की सारी गंदगी उस कूड़ा दान में भरी रहती है। क्या कोई सभ्य व्यक्ति उस कूड़ादान के पास बैठकर भोजन करना पसंद करेगा? क्या कूड़े से भरे उस कूड़ेदान को अपने साफ-सुथरे बिस्तर पर रख सकता है? कदापि नहीं। इसी प्रकार साधक का जहाँ-जहाँ आकर्षण होता है उसके वास्तविक रूप तथा परिणाम का सूक्ष्म चिन्तन करते हुए अपने मन का निरोध करता है।

इसी प्रकार इन्द्रियों तथा उनके भोगों की वास्तविकता तथा उसके परिणामों पर विचार करके मन को संकल्प रहित करके समाधि को प्राप्त होता है, इस अवस्था में स्थूल और सूक्ष्म तत्त्व से निर्मित कोई भी वस्तु या पदार्थ योगी के पतन का कारण नहीं बन सकती है। ऐसा विवेक संयुक्त योगी परिणाम जानकर सम्पूर्ण भूतों में जय प्राप्त कर लेता है अर्थात् संसार में उसकी कहीं भी आसक्ति नहीं होती है। बाहर संसार में किसी महापुरूष ने विजय नहीं प्राप्त किया है बल्कि सांसारिक लोगों के षडयंत्र के शिकार बने। यदि बाहरी संसार के भूत प्राणियों पर विजय प्राप्त करते तो लोग षडयंत्र क्यों करते? क्या इन षडयंत्रकारियों को महापुरूषों ने नहीं जीता?

महर्षि का कहना मात्र इतना है कि स्थूल संसार (बाह्य जगत) एवं सूक्ष्म संसार (अन्तर्जगत) समाधि में विघ्न है। इससे संबंधित संकल्प अवरोध उत्पन्न करता है। इसलिए विवेक पूर्वक परिणाम पर दृष्टि रखते हुए भोगों के संकल्पों का निरोध कर समाधि को प्राप्त करो।

जिसने इस प्रकार विवेक द्वारा समस्त भूतों पर विजय के साथ समाधि प्राप्त कर ली है, इस विजय के साथ उसे अन्य सिद्धियां भी प्राप्त होती हैं। इस पर कहते हैं–

ततोऽणिभादि प्रादुर्भावः कायसम्यतद्धर्मानभिघातश्च॥४५॥

इसके साथ ही शारीरिक सम्पदा के रूप में योगी को अणिमादि सिद्धियां प्राप्त होती हैं तथा उसके धर्म (योगपथ) में विघ्न भी नहीं होता है।

योगी महाविदेहावस्था को तभी प्राप्त होता है, जब भली प्रकार संस्कार निर्मूल हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में समस्त शरीरों से तथा देहाभिमान से छूट जाता है। इस अवस्था में योगी का चित्त निर्विकार होकर अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है। चित्त की यह अवस्था साधन के आरंभ में क्षणिक होती है, लेकिन सतत् चिन्तन के द्वारा योग की पराकाष्ठा में चित्त की अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था को सिद्ध कर लेता है। योगी जब तक चाहे इस अवस्था में रह सकता है। यह योगी की अणिमादिसिद्धि है। जैसे किसी भौतिक द्रव्य के विखंडन का अंतिम स्वरूप अणु है उससे छोटा भाग नहीं हो सकता है। उसी प्रकार योग की पराकाष्ठा में चित्त की अत्यंत सूक्ष्मावस्था को अणिमा सिद्धि कहते हैं।

लघिमा–दूसरी सिद्धि लघिमा है, अभिमान शून्यता के बिना योग की पराकाष्ठा में पहुंचना असम्भव है। जब तक किसी प्रकार का देहाभिमान शेष है। तब तक अणिमा सिद्धि नहीं होगी। विवेक द्वारा योगी थोड़ी देर के लिए देहाभिमान से अलग हो जाता है। परिस्थिति उत्पन्न होने पर देहाभिमान आ जाता है। इसीलिए अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से कहा था कि भगवन! मैं बहुत देर तक एक जगह मन को रोकना वायु की तरह दुष्कर समझता हूँ। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा निस्संदेह मन को रोकना कठिन है, लेकिन सतत् अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा यह वश में हो जाता है। यही महर्षि पातंजलि कहते हैं कि **''अभ्यास वैराग्याभ्याम् तन्निरोधः''** अभ्यास एवं वैराग्य के साथ

साधक अभिमान शून्य होकर अपने को सबसे छोटा मानकर चले, इस भाव पर स्थिरता प्राप्त करना ही लघिमा सिद्धि है?

प्रभुता से लघुता भली लघुता से सब होय।
जस द्वतीया को चन्द्रमा माथ नवै सब कोय।।
प्रभुता से लघुता भली प्रभुता से प्रभु दूर।
चींटी लै शक्कर चली हांथी के सिर धूर।।

लघिमा सिद्धि पाने के लिए समाज में सम्मानित चक्रवर्ती नरेशों ने अनेकों प्रकार के अपमान के बाद भी धैर्यता नहीं छोड़ी। भगवान बुद्ध ने लघुता के अभ्यास को बनाए रखने के लिए भिक्षुओं से कहा कि जब तुम्हें अभिमान होने लगे तो अपने मुड़े हुए सिर, काषाय वस्त्र एवं अपने भिक्षापात्र को देखना। भगवान बुद्ध भिक्षु राजकुमारों से भिक्षा इसीलिए मंगवाते थे ताकि यह देहाभिमान से दूर रहकर निराभिमान बनें। अपने आप में सबसे छोटेपन के भाव में स्थिरता ही लघिमा सिद्धि है, ऐसा साधक **''सबहि मान प्रद आप अमानी''** के भाव से संयुक्त होता है, ऐसा साधक उस महिमावान ईश्वर का कृपापात्र बन जाता है। ऐसे साधक को ईश्वरीय विभूतियां वरण करने लगती हैं। जिससे लोगों को लाभ मिलने लगता है, इस कारण उसकी महिमा चारों ओर फैलने लगती है। लेकिन इन उपलब्धियों की तरफ वह साधक ध्यान नहीं देता है। बल्कि अपने पथ पर दृढ़ता पूर्वक आरूढ़ रहता है। यही गरिमा नाम की सिद्धि है उसकी शक्तियां अक्षुण रहती हैं। वह धीर गम्भीर रहते हुए, विद्वानों की सभा में अपनी गरिमा मयी उपस्थिति का आभास कराता है।

जो साधक निरभिमान एवं कामना रहित होकर सतत् योगाभ्यास में रत रहता है। उसके संकल्प मात्र से सब कुछ मिलने लगता है।

''जो इच्छा करिहहु मन माही।
हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाही।''

ऐसी सिद्धि ''प्राप्ति'' सिद्धि कहलाती है।

भोगों की कामना न करने वाले सतत् योगाभ्यास में रत साधक जो कामनाएं कभी की थी वह प्रस्तुत होने लगती है, लेकिन साधक उन्हें स्वीकार न करते हुए सतत् चिन्तन में रत रहता है क्योंकि यह सभी सिद्धि ईश्वर प्राप्ति में

विघ्न है। पूर्व में की हुई कामनाओं का स्वतः प्रकट होना ही प्राकाम्य सिद्धि है। यदि साधक इनमें नहीं उलझता है तो उसे वशित्व नामक सिद्धि प्राप्त होती है अर्थात् मन की पूर्ण रूप से वशीकार अवस्था नामक सिद्धि प्राप्त होती है। मन के पूर्णरूप से वश में होने पर योगी सर्वत्र अपने ईश को देखने की क्षमता प्राप्त कर लेता है, **''ईशावास्यमिदं सर्वं''** की अनुभूति के साथ ही ईशित्व सिद्धि प्राप्त होती है।

''सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त।।

तत्पश्चात् **''सियाराम मय सब जग जानी''**

साधक पूर्ण विवेक के साथ इन्द्रियों के भोगों का परिणाम भली प्रकार समझकर ही योग की पराकाष्ठा में समाधि को प्राप्त होता है। जिसने एक बार भली प्रकार संसार के भोगों का परिणाम समझ लिया है वह किसी भी प्रकार के भोगों की कामना नहीं कर सकता है। ऐसे साधक के मार्ग में मायिक संकल्प विघ्न नहीं पैदा कर सकते। उसे परमात्मा प्राप्ति रूपी धर्म पालन में कोई व्यवधान नहीं है। यही धर्म में किसी प्रकार का घात न होना है। **''धारयति इति धर्मः''** जो चराचर जगत को धारण करता है वह परमतत्व परमात्मा है। उसे जानना ही धर्म है। भोगों की कामना न करने वाले साधक को भोग संबंधी कोई भी संकल्प विघ्न नहीं पैदा कर सकते हैं।

अणिमादि सिद्धियों के साथ योगी को काय सम्पति भी प्राप्त होती है। अब काय सम्पति के संबंध में देखें-

रूप लावण्य बल वज्रसंहननत्वानि काय सम्पत।४६।

रूप में माधुर्यता (आकर्षण) बल और बज्र के समान संगठन आदि शरीर की सम्पति है।

योग साधन में शरीर का बहुत ही महत्व है, **''साधन धाम मोक्ष कर द्वारा''** यह साधन का धाम एवं मोक्ष का खुला हुआ द्वार है। जैसा कि महापुरूष कहते हैं कि भजन के लिए कोई भी आयु प्रतिबन्धित नहीं है। **''कहै कबीर जनम की उढरी, जबै से चेते तबै से सुधरी''** देखा भी जाता है योग पथ में बालक, युवा, प्रौढ़ एवं वृद्ध सभी प्रवेश लेते हैं। भला वृद्ध कौन सी

सुन्दरता एवं बल प्राप्त कर सकता है। किसी का शरीर अत्यंत सुन्दर है, लेकिन जर्जरावस्था में सुन्दरता नष्ट हो जायेगी। योगाभ्यास के सतत् अभ्यास के परिणाम स्वरूप समाधि अवस्था में ईश्वरीय विभूतियों के प्रादुर्भाव के साथ योगी का व्यक्तित्व चमकने लगता है, यही वास्तविक सुन्दरता है। यही कारण था कि कागभुसुण्डि का काला कलूटा कौवा जैसा शरीर शोभा की खान बन गया। उन संत शिरोमणि के पास शंकर जी भी कथा सुनने जाते थे। उनके आश्रम में सब हंस जैसे उज्जवल ही निवास करते थे। स्वयं शंकर जी को देखकर सभी स्त्रियां मूर्छित हो गई। इतने भयानक कुरूप दिखते थे, लेकिन ईश्वर की प्राप्ति के बाद वही शिव **''सदा वसन्तम् हृदयाल विन्दे, भवं भवानी सहितं नमामि''** हर भक्त ने अपने हृदय में स्थान दिया इतने सुन्दर एवं प्रिय हो गये। जो प्रिय होता है उसी को तो हृदय में स्थान मिलता है। हनुमान, अंगद आदि जितने वीर वानर थे सब कुरूप थे, लेकिन ईश्वर प्राप्ति के बाद सब मनोहर रूप वाले हो गये। सबरी एवं सूपा भगत बाल्मीकि इत्यादि शरीर से विशेष सुन्दर नहीं थे लेकिन भक्ति प्राप्त करके सुन्दरता की खांन हो गये।

अवधपुरी आवत प्रभु जानी।
भई सकल शोभा की खानी।।
सोई पावन सोई सुभग शरीरा,
जो छल छांडि भजहि रघुवीरा।। ''रामचरित मानस''

ईश्वर चिन्तन में अनुरक्त साधक सुन्दरता की खान है, उसके पास सर्वश्रेष्ठ बल आत्मबल है। शरीर का बल तो कल लकवा मार जाय या कोई असाध्य रोग पकड़ ले तो नष्ट हो जायेगा। स्वामी रामकृष्ण देव को गले का कैन्सर था फिर भी आत्मबल में तथा सुन्दरता में कोई कमी नहीं थी। उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अत्यंत रूपवान एवं धनवान उनकी वाणी सुनने आते थे। यह बात अवश्य है कि भजन के लिए शरीर का स्वस्थ रहना आवश्यक है। भजन की अच्छी अवस्था में यह कमी भी बाधक नहीं बनती।

योगी योग के सभी आठ अंगों में बज्र के समान दृढ़ता प्राप्त कर लेता है। लाखों प्रकार के विघ्न एवं प्रलोभन उसे अपने पथ से विचलित नहीं कर

सकते। यह सभी योग्यताएं योगी के शरीर के साथ रहती है। इसीलिए इसे योग से प्राप्त शरीर की सम्पति कहते हैं।

बिना इन्द्रिय संयम के समाधि की इस अवस्था को प्राप्त करना सम्भव नहीं है। ना ही किसी प्रकार की सिद्धि ही सम्भव है। इसलिए अब इन्द्रिय संयम का उपाय बताते हैं। इन्द्रियों पर विजय कैसे प्राप्त करें इस पर देखें-

ग्रहण स्वरूपस्मितान्वयार्थवत्त्व संयमादिन्द्रिय जयः॥४७॥

समस्त इन्द्रियों की तथा उनकी ग्रहण शक्ति के मिश्रण से जो अस्मिता भाव उत्पन्न होता है। उसे संयम द्वारा पृथक-पृथक जान लेने से इन्द्रियों पर विजय रूप सिद्धि प्राप्त होती है।

महर्षि पातंजलि ने साधनपाद के तीसरे सूत्र में पांच मुख्य क्लेशों में एक क्लेश अस्मिता का भी उल्लेख किया है। छठवें सूत्र में अस्मिता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं। **''दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मते वास्मिता''** इन्हीं समस्त क्लेशों को मिटाने के लिए साधक समाधि पर्यन्त सतत् प्रयत्नशील रहता है।

साधन पाद में अस्मिता का तो एक उदाहरण है, इसी प्रकार सभी इन्द्रियों के साथ अस्मिता भाव होता है। इसीलिए उसका वृहत रूप इस विभूतिपाद में दिया गया है। साधनपाद में यह नहीं बताया गया कि इन सब पर विजय कैसे प्राप्त करें। उस विधि को यहाँ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि प्रत्येक इन्द्रिय के साथ उसकी शक्ति के मिश्रण से जो अस्मिता भाव उत्पन्न हो गया है, उस शक्ति को संयम द्वारा पृथक करके इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करें।

आँख नहीं देखती है, कान नहीं सुनता है, नाक नहीं सूंघती है, जीभ किसी रस का स्वाद नहीं लेती है, त्वचा को कोई स्पर्श ज्ञान नहीं होता है। सोया हुआ मनुष्य कुछ नहीं सुनता है, जबकि कान लगे होते हैं, आदमी सोया रहता है। बगल में चोर चोरी करते रहते हैं कान होने के बाद भी नहीं सुन रहा है। श्वाँस आ रही है, जा रही है, लेकिन सोया हुआ मनुष्य किसी सुगन्ध या दुर्गन्ध से परिचित नहीं होता। अत्यंत श्रेष्ठ इत्र नाक के सामने रखने पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती है। सोये हुए व्यक्ति की आंख धीरे से खोलकर पूछो क्या आप मुझे देख रहे हैं, क्या मेरी बातों को सुन रहे हो आपको कोई जबाव नहीं मिलेगा। सोये हुए व्यक्ति के ऊपर से सर्प निकल जाय लेकिन उसे पता नहीं

चलेगा जबकि चमड़ी का स्पर्श होते ही चमड़ी को मालूम होना चाहिये कि तुम्हारे ऊपर से कोई चीज गुजर रही है। चमड़ी को क्यों पता नहीं है क्योंकि स्पर्श शक्ति का उससे संबंध नहीं है। जीभ में रक्खे हुए कड़वे, खटटे, कषैले, पदार्थ का कोई स्वाद नहीं मालूम होगा। कारण इनकी जो शक्ति है इस समय इनसे पृथक है। जब श्रृवण शक्ति श्रृवण से संयुक्त होगी तभी मनुष्य सुन सकता है। जिस कर्मेन्द्रिय के साथ जो शक्ति संयुक्त होगी वह अपना काम करेगी अन्यथा नहीं। दर्शन शक्ति के माध्यम से आंख देखती है, लेकिन देखने वाला यही समझता है कि मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं स्वाद लेता हूँ, मैं स्पर्श करता हूँ। इसी भ्रम को संयम के द्वारा पृथक करके तथा स्थिर करके योगी समाधि को प्राप्त होता है। इसी को महर्षि पातंजलि ने साधनपाद में प्रत्याहार के माध्यम से समझाया है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से संबंध रहित होने पर प्रत्याहार होता है। इसी बात को यहाँ पुनः कह रहे हैं कि सम्पूर्ण इन्द्रियों को ईष्ट के स्वरूप में केन्द्रित करते हुए भली प्रकार इन्द्रियों को जीतकर समाधि को प्राप्त करो। समाधि की सतत् अवस्था में ही इन्द्रियां भली प्रकार जीतने में आती हैं।

योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! जो मनुष्य भोगों का चिंतन नहीं करता है उसके भोग निवृत्त हो जाते हैं, लेकिन राग रहता है। मेरे दर्शन के साथ भक्त का राग भी निवृत्त हो जाता है लेकिन हठ से इन्द्रियों को रोककर मन से विषयों का चिन्तन करने वाले दंभी हैं। ऐसे साधकों का न राग निवृत होता है न भोग ही निवृत होता है बल्कि नरक में जाना पड़ता है। ऐसे दंभी पुरूष कभी मन एवं इन्द्रियों पर विजय नहीं प्राप्त कर सकते हैं।

महर्षि का कहना है कि क्रम-क्रम से चेतन शक्ति को स्वरूप संयम के साथ इन्द्रियों से पृथक करते हुए विषयों की उपरामता के साथ समाधि को प्राप्त करो क्योंकि समाधि की सतत् अवस्था में ही इन्द्रियों पर पूर्ण विजय सम्भव है।

इन्द्रियों के माध्यम से ही मन विषयों को भोगता है। उनका अनुभव करता है। इन्द्रियों के विषयों से हटते ही मन भी स्थिर हो जाता है। इन्द्रियों पर विजय के साथ ही मन को जीता जाता है। इस पर कहते हैं-

ततो मनोजवित्वं विकरण भावः प्रधानजयश्च॥४८॥

इन्द्रियों पर विजय ही मुख्य विजय है, इस प्रधान विजय के बाद मन के

संकल्प के साथ सब कुछ जानने की क्षमता तथा पूर्ण निर्मल भाव प्राप्त होता है।

जगत की उत्पत्ति मन सहित इन्द्रियों के संयोग से होती है। मनसहित इन्द्रियों की विजय के साथ प्रकृति मिट जाती है। इस अवस्था में आकर आदि शंकराचार्य ने कहा सृष्टि हुई ही नहीं। प्रकृति निर्माण का हेतु एवं निवास मन सहित इन्द्रियाँ हैं। इनको भली प्रकार जीत लेने पर प्रकृति (संसार) पर विजय अपने आप हो जाती है। ऐसी अवस्था में अन्तःकरण पूर्ण निर्मल होता है। इस अवस्था का योगी संकल्प के साथ ही दूरस्थ एवं समीप वस्तुओं को यथास्थिति जानने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। हनुमान ने जी योग क्रिया के माध्यम से इस स्थिति को प्राप्त किया था तभी तो हनुमान जी के लिए **''मनोजवं मारूत तुल्य वेगं जितेन्द्रियं, बुद्धि मतां वरिष्ठम्''** कहा गया है। प्रत्येक योग पथिक क्रमशः सभी अवस्थाओं को पारकर स्वरूप को प्राप्त होता है।

प्रकृति पर विजय तथा मन के संकल्प के साथ सब कुछ जानना तथा पूर्ण निर्मलता आने पर योगी की कौन सी अवस्था होती है। इस पर कहते हैं-

सत्वपुरूषान्यता ख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च॥४९॥

प्रकृति जन्य समस्त विकारों के निर्मूल होते ही सत्व पुरूष (परमात्मा) की जानकारी के साथ सब भावों में स्वामी भाव तथा सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है।

सतत् योगाभ्यास के परिणामस्वरूप तमोगुण एवं रजोगुण के शान्त होते ही शुद्ध सतोगुण की अवस्था में परमपुरूष की जानकारी के साथ योगी सर्वत्र अपने ईष्ट को देखता है। **''सियाराम मय सब जग जानी''** इस जानकारी के साथ ही योगी ईश्वर में विलय पा जाता है। विलय होते ही ईश्वर के सम्पूर्ण गुण धर्मो से संयुक्त होकर ईश्वर की भांति सर्वज्ञ हो जाता है। अपने से भिन्न कुछ भी नहीं देखता **''जानत तुम्हहि, तुम्हहि होइ जाई''**।

पानी की एक बूंद समुद्र में मिलकर समुद्र के गुण धर्मों वाली हो जाती है। इसी अवस्था का चित्रण महर्षि पातंजलि ने पीछे समाधिपाद के चौबीसवें एवं पच्चीसवें सूत्र में किया है कि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश

तथा कर्म विपाक कर्म संस्कारों से सर्वथा रहित पुरूष विशेष ईश्वर है वह असीम एवं सर्वज्ञ हो जाता है। सम्पूर्ण योग दर्शन में इन्हीं समस्त क्लेशों से छूटने का उपाय बताया गया है। उसी को पुनः यहां स्पष्ट कर रहे हैं कि सत्व पुरूष, प्रकृति सहित तमोगुण एवं रजोगुण से निवृत्त पुरूष सर्वज्ञ हो जाता है।

जिसने योग साधना के सतत् अभ्यास से समस्त इन्द्रियों तथा उसके भोगों को जीत लिया है। जिसकी प्रकृति पूर्ण रूप से स्ववश है ऐसा स्ववश अन्तःकरण वाला योगी पूर्ण निर्मलता के साथ चराचर जगत में ईश्वर का दर्शन करते हुए उसमें विलय के साथ उसी भाव को प्राप्त हो जाता है। जहाँ साधना शेष हो जाती है।

ईश्वर प्राप्ति के बाद साधन से भी वैराग्य हो जाता है तथा इस सर्वोपरि स्थिति का भी योगी को अभिमान नहीं होता है इस पर कहते हैं-

तद्वैराग्यादपि दोष बीजक्षये कैवल्यम्॥५०॥

दोष के बीज (चित्त) का नाश होने पर सर्वथा निर्दोष अवस्था की प्राप्ति के साथ योग से भी वैराग्य हो जाता है, यही कैवल्य है।

ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों द्वारा मायिक संस्कारों को निर्मूल करके चित्त के विलय के साथ ऋतंभरा प्रज्ञा से निर्मित संस्कारो (दैवी सम्पति) की स्वयं के लिये कोई उपयोगिता न होने पर उन गुणों से योगी का वैराग्य हो जाता है। सर्वथा राग रहित अवस्था कैवल्य है।

योग के आरंभ में साधक को विषयों से वैराग्य के साथ सतत् चिन्तन एवं योगाभ्यास करते-करते समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। इन्द्रिय संयम के साथ समाधि पर्यन्त योगी को अनेक सिद्धियां प्राप्त होती है जिनका आंशिक वर्णन विभूतिपाद में किया गया है। इन आकर्षक विघ्नों को पारकर योगी कैवल्य अर्थात् अपने स्वरूप को प्राप्त होता है, इस अवस्था में दैवी सम्पत्ति का कार्य शेष हो जाता है। इसलिए इससे भी वैराग्य हो जाता है अर्थात इस स्थिति का लेशमात्र भी अभिमान नही होता है।

योगी सर्वप्रथम विषयों से वैराग्य करके ही योग में प्रविष्ट होता है, योग से राग होता है। विषयों से वैराग्य, ध्यान समाधि के अभ्यास से कर्माशय क्षीण होकर समाधि की पराकाष्ठा में निर्मूल हो जाते हैं। कर्माशय के नष्ट होते ही

इनका मूल स्थान चित्त भी विलय हो जाता है। यही मूल बीज है जिससे कर्म संस्कारों का निर्माण होता है जो जीव की अनन्त योनियों का कारण है। चित्त जो बीज है, यही संसार का चिंतन करके कर्म संस्कारों का निर्माण करता है। चिन्तनकाल में यही संस्कार विघ्न रूप में उपस्थित होकर विघ्न पैदा करते हैं तथा संसार के सुख-दुख का कारण बनते हैं। मन को भजन की धारा से अलग करना इन्हीं संस्कारों का काम है। यह संस्कार बार-बार विक्षेप पैदा करते हैं, यही दोष हैं। दोष युक्त संस्कारों का निर्माण करने वाला यह चित्त स्वरूप दर्शन के साथ विलय पा जाता है। जब तक मूल चित्त विद्यमान है तब तक जन्म लेना पडेगा। दोष के बीज का नाश होने पर अर्थात् चित्त के विलय के साथ पर वैराग्य को प्राप्त योगी कैवल्य पद को प्राप्त हो जाता है जहाँ योगी आवागमन से सर्वथा मुक्त हो जाता है क्योंकि कर्माशय एवं इसका मूल निवास चित्त के विलय के साथ ही कैवल्य की प्राप्ति होती है। जन्म-मृत्यु का कारण चित्त तथा इससे निर्मित संस्कार, योग की पराकाष्ठा समाधि में मिट जाते हैं।

बहुत से विद्वान बौद्धिक स्तर से तर्क दिया करते हैं कि जीव कुछ दिन तक आनन्द में रहकर फिर वापस आ जाता है। महर्षि कहते हैं कि जन्म मृत्यु का कारण यह चित्त जो सम्पूर्ण दोषों का बीज है जब यही नष्ट हो गया तो दोष का निर्माण कौन करेगा क्या पिसा हुआ या भुना हुआ बीज अंकुरित होगा? दोष बीज के दग्ध होने के साथ योगी को कैवल्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यहाँ साधना पूर्ण हुई, लेकिन कैवल्य प्राप्ति से पहले मन सहित सम्पूर्ण इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला योगी अनेक ईश्वरीय विभूतियों से सम्पन्न होता है जिससे समाज में उसकी महिमा भी बहुत बढ़ जाती है। जितनी महिमा बढ़ती है उतने ही आन्तरिक एवं बाह्य विघ्न भी बढ़ते हैं इन सबको पार करते हुए योगी कैसे कैवल्य को प्राप्त होता है इस पर कहते हैं-

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्ट प्रसंगात्॥५१॥

जो स्थानधारी अर्थात् लोकपाल, देवता, अधिकारी इत्यादि हैं उनके बुलाने पर, उनके द्वारा सम्मानित होने पर उनके इस संग से पुनः अनिष्ट की आशंका हो जाती है।

जो साधक योग की निर्धारित क्रिया को श्रद्धा एवं इन्द्रिय संयम एवं वैराग्य के साथ सतत् चिंतन द्वारा अपने मन को जीतने का प्रयास करता है। इस क्रम में जैसे-जैसे उसका संयम बढ़ेगा, वैसे-वैसे रिद्धियां-सिद्धियां उसके पास आयेंगी। जिससे संसार वालों का कुछ कल्याण होने लगता है। लोगों की कामनाओं की पूर्ति होने लगती है। जिससे साधक की ख्याति फैल जाती है। बड़े-बड़े लोकपाल (पुण्यात्माएं) आज की भाषा में राज्यपाल, मुख्यमंत्री, मंत्री, जिलाधीश बड़े-बड़े अधिकारी सब कल्याण की कामना से आने लगते हैं। यह सब पुण्य लोकों को प्राप्त पुण्यात्माएं हैं वह तो आयेगें क्योंकि आत्मा कि खुराक केवल संतों के पास है, इन्द्रियों की खुराक संसार में है। ऐसे पुण्यवान लोकों को प्राप्त लोग आते है, अपनी पूजा अर्चना से योगी को संतुष्ट करने का प्रयास करते हैं। यह तो उनका कर्तव्य है यदि साधक यह सोचने लगे कि हम बहुत बड़े योगी हो गये हमारे द्वारा लोगों का कल्याण होने लगा, बड़े-बड़े अधिकारी सम्मान देने लगे, ऐसा भाव आने पर साधक का पतन हो जाता है। रावण का भाव आ जाता है। रावण सोंचता था कि बड़े-बड़े दिगपाल पानी भरते हैं, बड़े-बड़े देवता मेरी सेवा में हैं, बस यही विचार साधक के अन्दर आसुरी भाव पैदा करके उसके पतन (अनिष्ट) का कारण बन जाता है। इस अवस्था में बहुत से साधक नष्ट हो जाते हैं। इसलिए महर्षि ने इसका उल्लेख किया है।

इस उपस्थित विघ्न से एवं अनिष्ट से साधक कैसे बच सकता है, इसका उपाय बताते हैं-

क्षण तत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्॥५२॥

क्षण एवं उसके क्रम में संयम करने से विवेक ज्ञान पैदा होता है। यह विवेक ज्ञान ही नश्वर उपलब्धि एवं सम्मान के अभिमान से बचाता है। विवेक जनित ज्ञान द्वारा योगी क्षण तथा उसके क्रम के संयम में सफल होता है।

किसी वस्तु का अंतिम भाग अणु कहलाता है, वैसे ही समय के सबसे छोटे भाग को क्षण कहते हैं। योग के पूर्ण ज्ञाता सद्गुरू द्वारा समय का सदुपयोग प्रत्येक क्षण कैसे होता है, जानकारी प्राप्त करके साधक एक-एक क्षण का सदुपयोग करता है। बदलते हुए क्षण को क्रम कहते हैं। प्रत्येक क्षण के संयम से क्रम का संयम होता है। इसलिए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को योग से सतत् संयुक्त रहने का उपदेश दिया है। भगवान महावीर ने अपने योग्य

शिष्य गौतम से कहा कि काल आयु को प्रति क्षण काट रहा है इसलिए इन नश्वर भोगों के परिणाम को समझकर गौतम तुम एक क्षण का भी प्रमाद मत करो अपने दुखों के बोझ को जल्दी उतार फेंको।

यही बात संत कबीर ने कही-

जागत में सुमिरन करै, सोवत में लौ लाय।
सुरत डोर लागी रहे, तार टूट न जाय॥

चिन्तन का क्रम न टूटे तभी सफलता सम्भव है। परमाराध्य गुरूदेव कहा करते हैं कि मन को कहीं न कहीं नाम रूप में अहर्निश लगाए रखो, इसे बाल के बराबर भी अवकाश मत दो यदि ऐसा करते पार लग गया तो सफलता दूर नहीं है। क्षण और उसके क्रम में संयम करने वाला साधक सदैव अपने श्वॉस में रमन करता है। ऐसा साधक पागल और विक्षिप्त जैसा लगता है क्योंकि सदैव श्वॉस में रमन करने वाला साधक बाहरी संसार के आचार विचार एवं व्यवहार से सर्वथा अलग हो जाता है। मन तो एक ही है वह अहर्निश श्वॉस में रमन करते हुए सदैव अपने विचारों के प्रति सतर्क रहता है। विवेक की उपस्थिति में कोई भी विजातीय संकल्प नहीं आ सकता है। पूर्ण विवेकवान साधक ही प्रतिक्षण का संयम कर सकता है, विवेक के अभाव में गिरने का डर रहता है। सदैव श्वॉस में उठने वाले नाम को देखने वाला साधक बाहर देख नहीं पाता है कि कौन आया कौन गया, यह अमीर है कि गरीब, कौन लोकपाल है कौन चौकीदार क्योंकि विवेक ज्ञान के द्वारा सत्य असत्य की पहचान होती है। विवेकवान साधक सदैव योगारूढ़ रहकर प्रति क्षण के संयम में सफल होता है। कोई भी व्यवधान आने पर उससे बच जाता है।

नित्य क्या है, अनित्य क्या है एवं क्लिष्ट वृत्ति कौनसी है, अक्लिष्ट वृत्ति कौन सी है। इन सबको जानने की क्षमता योगी को विवेक ज्ञान से ही प्राप्त होती है। विवेक ज्ञान से और क्या लाभ होता है, इस पर कहते हैं-

जाति लक्षण देशैरन्यतानवच्छेदान्तुल्य योस्ततः प्रतिपत्तिः॥५३॥

जाति, लक्षण एवं देश की एकरूपता के कारण जिसका भेद नहीं किया जा सकता, जहाँ दोनों वस्तुयें एक जैसी दिखाई देती हों वहाँ परिणाम भेद से विवेक द्वारा ही योगी समझ पाता है।

जहाँ पर दो वस्तुयें भिन्न हैं वहां निर्णय लेना आसान होता है, लेकिन जहां दोनों वस्तु बालि एवं सुग्रीव की तरह एक सी लगती हों, एक ही जाति हो, एक ही लक्षण हो, एक ही देश हो वहां लाभ एवं हानि, सत्य तथा असत्य का निर्णय लेना विवेक का काम है। विभीषण एवं रावण दोनों एक ही जाति, एक ही परिवार एवं एक ही देश के हैं। जैसे पिता शब्द है यह सुनने में एक जैसा लगेगा, श्रीराम के पिता, प्रहलाद के पिता लेकिन अन्तर कितना है। इसी प्रकार शकुनि भी मामा है, मारीच भी मामा है और श्रीकृष्ण भी अभिमन्यु के मामा हैं शब्द एक है, लेकिन परिणाम एवं वृत्ति की दृष्टि से अन्तर है। यह अन्तर विवेक करता है। दिति एवं अदिति दोनों कश्यप ऋषि की पत्नी हैं एक पत्नी से दैत्य पैदा हुए दूसरी से देवता दोनों के पिता एक हैं। वृत्ति शब्द एक ही है, लेकिन एक क्लिष्ट है दूसरी अक्लिष्ट। दोनों वृत्तियां हृदय देश में रहती हैं। इसका निर्णय विवेक द्वारा ही सम्भव है।

साधना पथ में अनुभवी सूत्रपात को स्वयं योगी समझता है। साधक सद्गुरू के सानिध्य में श्रद्धा एवं समर्पण के साथ जब योग में प्रवत्त होता है तो सद्गुरू अनुभवी सूत्रपात द्वारा उसका मार्गदर्शन करते हैं। जिसका उल्लेख साधनपाद के अठारहवें सूत्र में कर चुके हैं। कभी साधक को अनुभव में तलवार दिखाई दी। योग पथ में तलवार त्याग एवं ज्ञान का प्रतीक है, अब इसमें कौन क्लिष्ट वृत्ति है कौन अक्लिष्ट वृत्ति है यह निर्णय विवेक करता है, उस समय तलवार से क्या काम लिया जा रहा है उसका उपयोग कौन कर रहा है। यदि तलवार किसी कुरूप एवं काले व्यक्ति के हाथ में है तो वह भजन का त्याग सूचित करता है, दैवी सम्पति को काटने वाला, भजन से मन को काटकर प्रकृति में लगाने वाला संकेत देता है, उसकी मनोदशा को केवल चलने वाला योगी ही जानता है, विवेक द्वारा निर्णय लेकर अक्लिष्ट वृत्ति को स्वीकार करता है। यदि यही तलवार किसी अच्छे व्यक्ति या देवता के हाथ में श्रेष्ठ उद्देश्य से दिखाई दे रही है तो ईश्वर संबंधी ज्ञान एवं दूषित विचारों के त्याग का संकेत है।

तलवार का काम काटना है यह एक ही जाति है एक ही गुण है, लेकिन क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट को परिणाम की दृष्टि से विवेकवान साधक उन्हे पृथक कर लेता है। यही महर्षि कहते हैं कि जाति, लक्षण एवं देश से जिसका

''अनवच्छेदात्'' विभाजन नहीं किया जा सकता है। जो देखने में तुल्य हो ऐसी परिस्थिति में विवेक ज्ञान से निर्णय होता है।

विवेक ज्ञान से योगी को और क्या-क्या लाभ एवं सामर्थ्य मिलता है इस पर कहते हैं-

तारंक सर्वविषयं सर्वथा विषयक्रमं चेति विवेकंज्ञानम्।।५४।।

विवेक ज्ञान योगी को सम्पूर्ण विषयों से पार कर देता है तथा दूसरों को भी विषयों से पार करने की क्षमता पा जाता है। विवेक ज्ञान से संयुक्त योगी सम्पूर्ण विषयों को क्रम से तथा बिना क्रम के भी उनके वास्तविक स्वरूप को जान लेता है। गोस्वामी जी कहते हैं-

वारक नाम जपा जग जेऊ। भयउ तरन तारन नर तेऊ।

विवेक ज्ञान द्वारा योगी सम्पूर्ण विषयों से उपराम होकर चित्त की सर्वथा निर्दोष अवस्था को प्राप्त कर कैवल्य पद को प्राप्त होता है इस पर कहते हैं-

सत्व पुरूषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्यम्।।५५।।

सर्वथा निर्दोष चित्त ही पूर्ण शुद्ध एवं सम होता है। सतोगुण की पराकाष्ठा में योगी परम पुरूष के साक्षात्कार के साथ कैवल्य अर्थात् स्व स्वरूप को प्राप्त होता है।

विवेक ज्ञान के द्वारा योगी सम्पूर्ण विघ्नों एवं संस्कारों से उपराम होकर मन के पूर्ण शुद्ध एवं सम अवस्था को प्राप्त कर लेता है। शुभा-शुभ संकल्प शेष हो जाते हैं न उसमें शुभ विचार हैं न अशुभ। मन की इस सम अवस्था में पुरूष (परमात्मा) के ज्ञान के साथ कैवल्य को प्राप्त हो जाता है, यही भगवान महावीर का केवली ज्ञान है। यही योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन-

इहेव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।।५/१९।।

सतत् योग चिन्तन में अनुरक्त साधक शरीर के रहते संसार को जीत लेता है, अर्थात् विकारों के सहित सम्पूर्ण संस्कारों को मिटा देता है तो उसका मन सम हो जाता है, उधर परमात्मा भी निर्दोष एवं सम है, इधर योग के

परिणाम में योगी का मन भी निर्दोष एवं सम है, इसलिए योगी तत्क्षण ब्रह्म में स्थित होकर उसी भाव को प्राप्त हो जाता है।

योग पथ के प्रत्येक साधक के सामने रिद्धियां-सिद्धियां आती हैं। भली प्रकार विवेक में आरूढ़ साधक इन अवरोधों को पारकर अपने स्वरूप को प्राप्त होता है। जिसे कैवल्य या मोक्ष कहते हैं, जहाँ योगी आवागमन से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

संत कबीर के सामने जब रिद्धियां-सिद्धियां प्रकट होकर अपनी तरफ आकर्षित करने लगीं तब उन्होंने कहा-

ठगनिया क्या नैना चमकावै, कबिरा तेरे हाथ न आवै।
रूपा पहिर के रूप दिखावै, सोना पहिर चमकावै।।

संत गोस्वामीजी ने कहा-

छोरति ग्रन्थ जानि खग राया।
विघ्न अनेक करई तब माया।।
रिद्धि सिद्धि प्रेरहि बहु भाई।
बुद्धिहि लोभ दिखावहि आई।।
होई बुद्धि जो परम सयानी।
तिन्ह तन चितव न अनहित जानी।।
जो निर्विघ्न पंथ निर्वहई।
तौ कैवल्य परम पद लहई।

यदि बुद्धि परम पुरूष से संयुक्त है तो रिद्धियों-सिद्धियों में अनर्थ जानकर उधर साधक देखता ही नहीं है। रिद्धि-सिद्धि आय या चली जाय न आने में खुशी न जाने में दुख। यदि इस प्रकार दृढ़ विवेक द्वारा निर्विघ्न रूप से मार्ग पार हो गया तो साधक कैवल्य परम पद प्राप्त कर लेता है। जो उसका वास्तविक धाम है। जहां जन्म मृत्यु का सर्वथा अभाव है।

इति विभूतिपाद

श्री परमात्मने नमः

कैवल्य पाद

योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा योग का महत्व समझने के बाद अर्जुन ने प्रश्न किया कि- हे महाबाहो! हे गोविन्द! यह योग ऐसा तो नहीं है कि जैसे छोटी सी बदली आकाश में उठती है वह न बरस पाती है न पुनः मेघों से ही मिल पाती है, बल्कि हवा के झोंके से देखते-देखते छिन्न-भिन्न होकर प्रायः नष्ट हो जाती है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा अर्जुन! उस पुरूष का न तो इस लोक में विनाश होता है न परलोक में क्योंकि इस परम कल्याणकारी योग का आश्रय लेने वाला कभी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है, उसका निश्चित कल्याण होताा है। अर्जुन योग से भ्रष्ट हुआ साधक पुण्यवानों के लोकों को प्राप्त करके वहाँ इच्छित भोगों को भोगकर फिर श्रीमानों के कुल में जन्म लेता है, वहाँ जन्म लेकर अनायास ही पूर्व में प्राप्त योग क्रिया को प्राप्त कर लेता है और शनैः-शनैः योगाभ्यास द्वारा वह परम पद को प्राप्त होता है!

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।।अ.६/३८
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरूनन्दन।।अ.६/४३।।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि अर्जुन योगक्रिया का आश्रय लेने वाला कभी भी किसी काल में विनाश को नहीं प्राप्त होता। इस योग क्रिया का थोड़ा सा भी साधन जन्म-मरण रूपी संसार के महान भय से छुटकारा दिला देता है। एक बार इस पथ में श्रृद्धा से रखा हुआ कदम निश्चित कल्याण करता है, इसमें विपरीत संगदोष रूपी फल भी नहीं लगता कि साधक को रिद्धियों-सिद्धियों के दल-दल में फसा दें। इस योग रहस्य को योगेश्वर ने अपनी तरफ से कुछ भी नहीं कहा है, बल्कि जिसे योगेश्वर से पूर्व के ऋषियों

ने कहा है। उसी का समर्थन किया है।

''ऋषिर्भि बहुधा गीत''

नेहाभिक्रम नाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ २/४०॥

भौतिक शिक्षा में मनुष्य कितना ही आगे बढ़ जाये दूसरा जन्म मिलने पर उसे नये सिरे से पुनः पढ़ना पड़ेगा, लेकिन योग पथ में ऐसा कदापि नही है। योग क्रिया से प्राप्त ज्ञान का कभी विनाश नहीं है, दूसरा जन्म मिलने पर वह साधक अपने पीछे के योग साधन को प्राप्त कर लेता है। योग अविनाशी है इससे प्राप्त विभूतियाँ एवं उपलब्धि भी अविनाशी हैं। इस सत्य को प्रत्येक महापुरूष ने स्वीकार किया है, इसी सत्य को महर्षि पातंजलि ने कैवल्य पाद के प्रथम सूत्र में स्पष्ट करते हुए कहा कि-

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः॥१॥

पीछे विभूति पाद में प्रमुख-प्रमुख सिद्धियों का उल्लेख महर्षि ने किया है, यहाँ उनकी विधियों पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि बहुत से योगियों को जन्म से, औषधि से, मंत्र से, तप से तथा समाधि के द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त होती है।

सूत्र को देखकर ऐसा लगता है जैसे अलग-अलग साधनों द्वारा सिद्धियों को प्राप्त करने का संकेत है, लेकिन ऐसा कदापि नहीं है, बल्कि साधक की क्षमता एवं दृष्टिकोण के आधार पर एक ही साधन को प्रकारान्तर से प्रस्तुत किया गया है। एक साधक की साधना पूर्ण हो चली है, वह समाधि की पराकाष्ठा को प्राप्त है, सम्पूर्ण संस्कार नष्ट हो चुके हैं मात्र चित्त का विलय शेष है, ऐसे योगी ''भव प्रत्यय'' योगी कहलाते है। ऐसी अवस्था वाले योगियों का मात्र जन्म लेना शेष रहता है साधन नही, ऐसे योगी जन्म से ही सम्पूर्ण सिद्धियों (योग की विभूतियों) को धारण किये हुए होते हैं। जैसे श्रीकृष्ण एवं श्रीराम, भगवान बुद्ध, भगवान महावीर, गुरूनानक देव, कबीर साहब, पूज्य परहंस महाराज जी इत्यादि। ऐसे योगी में जन्म से ही विलक्षण प्रतिभा दिखाई देने लगती है। ऐसे योगी सद्गुरू के सानिध्य में अल्प समय में ही अपनी साधना पूर्ण कर लेते हैं, अन्य साधकों की अपेक्षा कोई विशेष श्रम नहीं करना

पड़ता है। पूज्य परमहंस महाराज जी कहा करते थे कि गुरूदेव भगवान की अल्प सेवा एवं सानिध्य से पूर्व की समस्त साधना ऐसे प्राप्त हो गई जैसे कोई रखी हुई वस्तु अचानक मिल जाती है। ऐसे भव प्रत्यय योगी जन्म से ही सिद्धियों को प्राप्त होते हैं, दूसरे योगी ''औषधि'' अर्थात् भक्ति द्वारा **''रघुपति भगति सजीवन मूरीः''** जो मानस रोगों को नष्ट करने की औषधि है। मंत्र द्वारा **''महामंत्र मणि विषय व्याल के, मेटत कठिन कुअंक भाल के''** मन+त्र = मंत्र। मन सदैव तीनों गुणों के अन्तर्गत काम करता है, इसलिए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा **''निस्त्रैयर्गुणो भवाऽर्जुनः''** अर्जुन इस योग क्रिया द्वारा तीनों गुणों से ऊपर उठ क्योंकि जब तक तीनों गुण है, तब तक जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि एवं दुख विद्यमान है। मंत्र वह है जो तीनों गुणों से उपराम कर दे। 'महामंत्र' ''मंत्र मूलम गुर्रू वाक्यं'' सद्गुरू से प्रदत्त साधना द्वारा मन का निरोध करके सिद्धि प्राप्त करते हैं, बार-बार लक्ष्य के अनुरूप मन सहित इन्द्रियों को लगाने के अभ्यास का नाम तप है। इस तप द्वारा मन का निरोध करके सिद्धि प्राप्त होती है। साधन एक ही है एक ही साधन को अपनी क्षमता के अनुसार साधक मन का निरोध करता है क्योंकि मन के निरोध काल में ही सिद्धियाँ प्रकट होती है। यही निरोध मन समाधि में परिणित हो जाता है जहाँ सम्पूर्ण सिद्धियों की प्राप्ति होती है। ईश्वर की विभूतियाँ अनन्त हैं। हजारों महापुरूषों को प्राप्त विभूतियों को मिलाने के बाद भी उन विभूतियों का अन्त नहीं हैं। भविष्य में करोड़ो महापुरूष होंगे, सृष्टि के आदि से अन्त तक सभी महापुरूषों को प्राप्त विभूतियों को मिला देने के बाद भी ईश्वरीय विभूतियों का अन्त नहीं हो सकता है। इसलिए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता के दसवें अध्याय में कहा है कि अर्जुन मेरी विभूतियों का अन्त नहीं है, तुम्हारा बहुत जानने से क्या प्रयोजन है। संसार में यह जितनी तेजयुक्त वस्तुएँ हैं, उन सबको मैं एक अंश मात्र से धारण किये हुए हूँ। वास्तव में साधक के त्याग एवं संयम का स्तर जैसा होता है उसी स्तर से विभूतियों की प्राप्ति होती है।

अब अगले सूत्र में साधक की क्रमिक अवस्थाओं का वर्णन करते हुए कहते हैं कि साधक क्रमशः एक अवस्था से दूसरी अवस्था में कैसे जाता है, इस पर देखे-

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्॥२॥

प्रकृति के पूर्ण होने से जात्यन्तर परिणाम होता है। एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना यह प्रकृति पूरा होने से होता है।

साधना पथ में साधक की क्रमशः चार श्रेणी होती है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्र (अल्पज्ञ)। सद्गुरू के सानिध्य में साधना की प्रवेशिका में साधक अल्पज्ञ होता है, ऐसी अवस्था में साधना की सूक्ष्मातिसूक्ष्म पकड़ का साधक में अभाव होता है, उसके मन के अन्तराल में विकारों का बाहुल्य होता है, घंटो साधना में बैठे रहने पर उसका मन एक मिनट भी स्थिर नहीं होता है, ऐसा साधक श्रद्धा से, नाम जप से तथा निष्ठापूर्वक निष्कपट भाव के साथ सदगुरू की सेवा द्वारा योगक्रिया को भलीभांति समझने की तथा मन द्वारा नाम जप पकड़ने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। इस अल्पज्ञता श्रेणी को पार कर साधक क्रमशः वैश्य श्रेणी में प्रवेश पाता है। शूद्र श्रेणी की प्रकृति मिटते ही वैश्य श्रेणी में आ जाता है, शूद्र श्रेणी की प्रकति पूर्ण हाने पर साधक उससे पार होकर आगे की प्रकृति में प्रवेश पाता है। इस वैश्य श्रेणी के साधक में सेवा के साथ नाम जप की एवं सदगुरू के रूप को पकड़ने की क्षमता आ जाती है, उसका मन नाम एवं रूप में रूकने लगता है क्योंकि इस श्रेणी का साधक इन्द्रिय जनित भोगों के परिणाम को भली प्रकार समझने की क्षमता प्राप्त कर लेता है, इसलिए विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों को एवं मन को तत्काल हृदय में स्थिर कर लेता है, इस प्रकार अभ्यास करते-करते साधक इस वैश्य श्रेणी की प्रकृति को पार कर क्षत्रिय श्रेणी की प्रकृति में प्रवेश पा जाता है। इस श्रेणी के साधक में ईष्ट (सद्गुरू) की पर्याप्त अनुकूलता होती है, आज्ञा पालन तथा मन एवं विकारों के जीतने की क्षमता आ जाती हैं। साधन के प्रारम्भ में संकल्पों के साथ भागने वाला मन अब भली प्रकार स्थिर रहता है, अहर्निश चिन्तन की क्षमता, प्रत्येक परिस्थिति में मन में किसी प्रकार का उद्वेग नहीं पैदा होता है, क्षत्रिय श्रेणी के साधक में साधना से पीछे न हटने का स्वभाव तथा पूर्ण समर्पण की क्षमता आ जाती है, क्षत्रिय श्रेणी की प्रकृति पूर्ण होते ही साधक ब्राह्मण श्रेणी की प्रकृति में प्रवेश पा जाता है। ऐसा साधक ईष्ट की पूर्ण अनुकूलता के साथ योग की पराकाष्ठा में परम् सिद्धि को प्राप्त होता है अर्थात् अपने स्वरूप को प्राप्त होता है।

महर्षि पातंजलि का कहना है कि प्रत्येक साधक अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार चिन्तन में प्रवत्त होकर क्रमशः उत्थान करते-करते प्रकृति से उपराम होकर ईश्वर को प्राप्त करता है। योग पथ में प्रत्येक स्तर के साधक के पास सिद्धियां आती है, साधना की उन्नति के साथ विभूतियाँ भी उन्नत स्तर से प्राप्त होती हैं। एक प्रकृति से दूसरी प्रकति में जाना यह योगिक जन्म है, प्रत्येक जन्म में साधकों को उसके स्तर से सिद्धियाँ प्राप्त होती है। बाहर कहीं जाति नहीं होती बाह्य दृष्टि से अधिकांश महापुरूषों का उच्चकुल से कोई सम्पर्क न होने के बाद भी योग की पराकाष्ठा में सभी विप्रत्व को प्राप्त हुए, जैसे विश्वामित्र, वशिष्ठ, भरद्वाज, याज्ञवल्क्य, देवर्षि नारद, वाल्मीकि इत्यादि इसी क्रम में ऋषभदेव के इक्यासी पुत्र ब्रह्मत्व को प्राप्त हुए। महर्षि पंताजलि की तरह योग साधना की इस क्रमिक अवस्था को योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता के अठारहवें अध्याय में यथावत् प्रस्तुत किया है क्योंकि सत्य के मार्ग पर संसार के सभी महापुरूष एक मत हैं।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः। अ० १८/४१

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा हे परंतप अर्जुन! ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र श्रेणी के साधकों में स्वभाव एवं गुणों से उत्पन्न क्षमता के अनुसार मैने कर्म को चार भागों में बाँटा है। कर्म कौन सा है, जिसे योगेश्वर श्रीकृष्ण ने तीसरे अध्याय में स्वयं स्पष्ट किया है।

यज्ञार्थत्कर्मणोऽन्यत्र लोकेऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसग. समाचर।। अ० ३/९

अर्जुन यज्ञ कि प्रक्रिया ही कर्म है, शेष कर्म इसी लोक का बन्धन है, इस यज्ञ की प्रक्रिया को संगदोष से अलग होकर सम्पन्न करना है। इसी कर्म को चौथे एवं आठवें अध्याय में अधिक स्पष्ट किया गया है, आठवें अध्याय में अर्जुन के प्रश्न करने पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि भूतों का स्वभाव कुछ न कुछ संकल्प करना है कर्म इन सभी संकल्पों पर विराम लगा देता है। इसी गीतोक्त कर्म को स्वभाव (प्रकृति) के अनुसार चार श्रेणी में बांटा गया है।

''भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः''।। अ. ८/३

यही महर्षि पातंजलि कहना चाहते है कि योग क्रिया के अनुसार आचरण करने वाला साधक क्रमशः एक प्रकृति से दूसरी प्रकृति में प्रवेश (जन्म) ले लेता है, योग पथ में प्रत्येक श्रेणी के साधक को सिद्धियाँ (ईश्वरीय विभूतियाँ) प्राप्त होती हैं। मात्र साधना की सत्यता की पुष्टि के लिए बाहर कहीं जातियाँ होती ही नहीं, शास्त्र न समझने के कारण बाहर जातियों का निर्माण करके मनुष्यों में दूरी पैदा कर दी गई है। संसार में मनुष्य केवल दो प्रकार का है। एक देवताओं जैसा दूसरा असुरों जैसा।

द्वौ भूतसर्गौ लोकंऽस्मिन्दैव आसुर एव च॥ अ. १६/६

अब यहाँ एक प्रश्न उठता है कि साधक प्रकृति को परिवर्तित करके एक जाति (श्रेणी) से दूसरी जाति (श्रेणी) में जाता है अथवा प्रकति पूर्ण होने के बाद स्वतः श्रेणी परिवर्तित हो जाती है। इस पर कहते हैं-

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ।३।

निमित्त अर्थात् साधक प्रकृतियों को नहीं चलाता है। वह अपने स्तर से मात्र किसान की भाँति रूकावट को दूर करता है।

जब साधक अपनी प्रकृति के अनुसार योग क्रिया में प्रवत्त होता है, अपने मन को सब ओर से समेट कर नाम एवं रूप में केन्द्रित (स्थिर) करता है, उस समय संस्कार तथा बाहरी शब्द एवं दृश्य संगदोष पैदा करके योगाभ्यास में विघ्न (रूकावट) डालते हैं, साधक उन विघ्नों को ईष्ट के प्रति अटूट ऋद्धा से, वैराग्य से, त्याग से, अनुराग से, विवेक से दूर करते हुए क्रमशः उत्थान करते करते लक्ष्य को प्राप्त होता है, जैसे एक किसान खेत में पानी लगाते समय जब एक क्यारी में पानी भर जाता है तो फावड़े के माध्यम से उस पानी को दूसरी क्यारी में काट देता है। क्यारी की जो मेड़ पानी को दूसरी क्यारी में जाने से रूकावट डाल रही थी, किसान उस रूकावट को फावड़े से काट देता है। इसी प्रकार साधक आने वाले विघ्नों को दैवीय गुणों के माध्यम से तथा ईष्ट की कृपा से काटकर आगे बढ़ जाता है।

योग साधना में रूकावट कैसे आती है, रूकावट पैदा करने वाले संस्कारों का निर्माण कैसे होता है इस पर कहते हैं।

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्॥४॥

बनाये हुए चित्त का मात्र कारण अस्मिता है जो योग पथ में अवरोध उत्पन्न करते हैं।

महर्षि पातंजलि ने साधनपाद में क्लेशमूलक पाँच मुख्य बिन्दुओं का उल्लेख किया है इन पाँचों मुख्य वृत्तियों से निर्मित संस्कार जीवात्मा को अनन्त दुख रूप योनियाँ प्रदान करते रहते है। योग की पराकाष्ठा में इनका निर्मूल होना निश्चित है, क्लेशमूलक पाँच वृत्तियों में एक अस्मिता भी है जिसका यहाँ उल्लेख किया गया है, **''दृगदर्शन शक्त्योरे कात्मतेवास्मिता''** दृगशक्ती एवं दर्शनशक्ती का मिश्रित होना ही अस्मिता है।सा.पा.६

प्रत्येक संकल्प के साथ (जो बाद में संस्कार, भाग्य या कर्माशय कहलाता है) आत्मा का प्रकाश जिसे देखने की शक्ति कहते हैं, रहता है। आत्मिक प्रकाश के अभाव में चित्त में एक भी स्फुरण नहीं होगा। एक संकल्प में मन वुद्धि चित्त एवं अंहकार तथा पंच महाभूत तथा इनकी सूक्ष्मतम् मात्रा विद्यमान होती है यही संकल्प समय आने पर एक शरीर के रूप में परिणित होकर अपना परिणाम देता है। अस्मिता से निर्मित सभी संस्कार अनन्त भव का निर्माण करके जीव को अनन्त दुखरूप भव प्रदान करते हैं। यही संस्कार योग पथ में विध्न के रूप में उपस्थित होते है।

प्रत्येक संकल्प में चित्त होता है, इन असंख्य संस्कारों के साथ रहने वाले तथा अवरोध उत्पन्न करने वाले चित्तों का निर्माता कौन है। इस पर देखे-

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्।।५।।

प्रवत्ति भेद से अनेंक चित्तों को प्रस्तुत करने वाला एक मूल चित्त होता है।

जैसे मनुष्य से मनुष्य, पशु से पशु, पक्षी से पक्षी, सरीसृप से सरीसृप उत्पन्न होते हैं, जैसे आम के हजारों फलों में हजारों आम वृक्ष की संरचना विद्यमान होती है, वैसे ही प्रत्येक संकल्प के साथ चित्त होता है। मूल चित्त एक ही है। संसार में जितने मनुष्य हैं सबकी अपनी अलग-अलग प्रवृत्ति है, प्रवृत्ति के अनुसार संकल्प होते हैं, सबकी प्रवृत्ति भिन्न है इसलिए संकल्प भी भिन्न-भिन्न होते हैं, संकल्प के अनुसार कर्माशय एवं भोग तथा परिणाम भी भिन्न होते हैं। इसलिए एक ही जगह रहने वाले एक ही समय में प्रसन्न एवं

अप्रसन्न देखे जाते हैं यही महर्षि कहते हैं कि प्रवृत्ति भेद से मूल चित्त अनेक चित्तों को प्रायोजित करता है।

यहाँ तक महर्षि ने अस्मिता से निर्मित संस्कारों का वर्णन किया है जो योग क्रिया में विध्न उत्पन्न करते हैं। अब ध्यान जनित चित्त का वर्णन करते हैं–

तत्र ध्यानजमनाशयम्॥६॥

ध्यान जनित चित्त कर्म संस्कारों से रहित होता है।

अस्मिता से निर्मित संस्कार जो कर्माशय के रूप में पड़े रहते हैं। समय आने पर अपना परिणाम देते हैं। संसार के समस्त प्राणियों का जीवन इन्हीं कर्माशयों पर आधारित है। झोपड़ी से लेकर महलों तक सभी संस्कारों के आधीन जीवन यापन करने के लिए विवश हैं, इसीलिए न चाहते हुए मनुष्य का पतन होता रहता है, न चाहते हुए तबाही से, बर्बादी से गुजरना पड़ता है। इस विवशता से छुटकारा पाने के लिए चक्रवर्ती नरेशों ने महलों के भोगों का परित्याग करके योग का आश्रय लेकर समस्त दुखों से छुटकारा पा गये तथा भोगों के पीछे भागने वालों के एवं विवशता का जीवन जीने वालों के आदर्श एवं पथ प्रदर्शक बने।

महर्षि पातंजलि यही कहते हैं कि योग पथ में अवरोध उत्पन्न करने वाले अस्मिता से निर्मित संस्कार ध्यान की अवस्था में मिटते हैं। योगाभ्यास करते-करते जब चित्त भली प्रकार एकाग्र अर्थात् संकल्प विकल्प से रहित होकर आकाशवत् होता है, ऐसी ध्यान की निरन्तर अवस्था में चित्त के कर्माशय से रहित होने पर योगी अपने स्वरूप को प्राप्त होता है। ध्यान से रहित चित्त सदैव कर्माशयों (संस्कारों) से प्रेरित होता है।

जिस बात को महर्षि ने यहाँ पर कहा है, इसी बात को समाधिपाद के पचासवें सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा है कि क्रमशः ऋतम्भरा से निर्मित संस्कार अविद्या जनित संस्कारों का निरोध करता है अर्थात् चित्त को कर्माशय से मुक्त करता है।

''तज्जः संस्कारों अन्य संस्कार प्रतिवंधी''।

जिस योगी का चित्त सतत् ध्यानावस्था में रहते हुए ध्यान की

पराकाष्ठा में कर्माशय से रहित होकर ईश्वर में विलय पा जाता है। उसके कर्म कैसे होते हैं। इस पर कहते हैं-

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनास्त्रिविधमितरेषाम्॥७॥

पूर्ण महापुरूष के कर्म अशुक्ल एवं अकृष्ण होते हैं, अन्य साधकों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं। योग के परिणाम में ईश्वर को प्राप्त योगी के कर्म न तो शुभ परिणाम वाले होते हैं न अशुभ परिणाम वाले होते हैं क्योंकि स्वरूपस्थ पुरूष के सभी कर्म अनासक्त भाव से होते है। ऐसी स्थिति वाले महापुरूष शुभाशुभ के परिणाम से रहित होते हैं, शेष साधकों के कर्म सत, रज एवं तम तीन प्रकार के होते हैं।

अन्तः करण में तीन गुण होते हैं, जैसा गुण होता है वैसा ही संकल्प होगा वैसा ही कर्म होगा, यदि मन में तमोगुण की अधिकता है तो कर्म करने में आलस्य, प्रमाद तथा निद्रा का बाहुल्य होता है। इस कारण साधक कर्म करने में बड़ी कठिनाई महसूस करता है। कर्म का अर्थ है यज्ञ (श्वॉस-प्रश्वॉस का यजन)। योग क्रिया तामस प्रधान मन योग के कठिन नियमों से घबड़ाकर साधना छोड़ बैठता है ऐसे साधक में कभी श्रृद्धा रहती है, कभी नहीं रहती। उसके चिन्तन का क्रम नियमित नहीं हो पाता, लेकिन सतत् सेवा सुमिरन में लगा रहने वाला तमोगुण के प्रभाव से ऊपर उठ कर रजोगुण में प्रवेश कर जाता है। इस स्तर का साधक योग क्रिया में समय तो देता है, लेकिन मायिक संकल्प तथा स्वभाव पीछा नहीं छोडते, योग क्रिया के सतत् क्रमिक अभ्यास से साधक सतोगुण में प्रवेश पा जाता है। इस अवस्था में कर्म में भली प्रकार दृढ़ता तथा पर्याप्त अनुकूलता होती है सतत् चिन्तन की क्षमता तथा हृदय की पूर्ण निर्मलता रहती है। ध्यान समाधि की भली प्रकार पकड़ होती है, सतोगुण के कार्य काल में योगी समाधि की पराकाष्ठा में योग का परिणाम प्राप्त कर लेता है, जहाँ योग क्रिया शेष हो जाती है। अब आगे कोई सत्ता शेष नहीं जिसकी प्राप्ति के लिए यत्न किया जाय।

यही योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन जो मनुष्य अपनी आत्मा में ही रमण करता है, अपनी आत्मा में तृप्त तथा अपनी आत्मा में ही संतुष्ट है उसके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता है, उस महापुरूष का इस विश्व में न तो कर्म करने से कोई लाभ है और न कर्म छोड़ देने से कोई हानि है। अर्जुन

मुझे भी तीनो लोकों में कोई कर्तव्य कर्म शेष नहीं है और न ही कोई अप्राप्त वस्तु प्राप्त करने योग्य है। फिर भी मैं कर्म अर्थात् योग क्रिया में बर्तता हूँ यदि ऐसा न करू तो पीछे वाले मेरा अनुकरण करके मार्ग भ्रष्ट हो जायेगें और मैं वर्णशंकर का कर्ता बनूँगा। इसीलिए प्रत्येक महापुरूष पीछे वालों की हित की इच्छा से योगक्रिया में बर्तते हैं, जबकि इस क्रिया का महापुरूष के लिए कोई उपयोग नहीं है। इसलिए महर्षि पातंजलि कहते है कि ऐसे योगी के कर्म अशुक्ल एवं अकृष्ण होते हैं।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कचन।
न चास्य सर्वभूतेषु कचिदर्थव्यपाश्रयः॥ अ. ३/१८
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

गीता अध्याय-३/२२-२३-२४

यहाँ तो श्रीकृष्ण ने जीवन मुक्त महापुरूष के कर्म पर प्रकाश ड़ाला।

महर्षि पातंजलि की भांति योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता के अठारवें अध्याय में अन्य साधकों के तीन प्रकार के कर्मो पर प्रकाश ड़ाला है-

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥ अ.१८/१८
नियतं सड्.रहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ अ. १८/२३

जो कर्म शास्त्र विधि से निश्चित किया हुआ है। कौन सा शास्त्र? यही ''गीता शास्त्र'' जिसमें श्वाँस प्रश्वाँस की प्रक्रिया को कर्म कहा है। इस निर्धारित योग क्रिया में कर्तापन के अभिमान से रहित अर्थात् योगिक क्रिया मुझसे पार लग रही है इसे करने कराने वाले सदगुरू हैं मै तो निमित्त मात्र हूँ। ऐसे भाव से तथा फल न चाहने वाले बिना राग-द्वेष के संसार में न कहीं राग

हो न द्वेष ऐसे मन द्वारा किया गया कर्म सात्विक है। अब देखें राजसी एवं तामसी कर्म-

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ अ.१८/२४
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरूषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ अ. १८/२५

अर्जुन इस योगक्रिया को भोगों की इच्छा से करने वाले साधक का परिश्रम पूर्वक होने वाला कर्म राजस कर्म है। साधना के आरंभ में कठिनाई प्रतीत होती है तथा जो कर्म परिणाम, हिंसा और सामर्थ्य को न विचारकर मोह वश किया जाता है वह तामस कर्म है। यही तीन प्रकार के कर्म अन्य साधकों के होते हैं जिस साधक के अन्दर जिस गुण की बाहुलता होती है वैसा ही कर्म उससे पार लगता है। स्वरूपस्थ महापुरूष कर्म तथा उसके परिणाम से उपराम होते हैं उनके कर्मो का कोई परिणाम नहीं होता न स्वंय ही किसी कर्म से प्रेरित एवं प्रभावित होते है, वह आत्माराम होते है।

इन कर्मो का एवं गुणों का कारण क्या है साधक इनके उतार-चढ़ाव को कैसे जाने। इस पर कहते हैं।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्॥८॥

अनन्त जन्मों के कर्म संस्कारो (कर्माशयों) की अभिव्यक्ति गुण एवं वासना के आधार पर होती हैं।

सातवें सूत्र में एक प्रश्न उठता है कि जो योगी योग के परिणाम में परमात्मा को प्राप्त कर चुके हैं। उनके कर्म का कोई परिणाम नही होता, लेकिन अन्य साधकों का कर्म तीन प्रकार का होता है, लेकिन अन्य साधक कैसे समझें की कर्म कब तक करना है कर्म कब शेष होगा तथा कौन सा गुण एवं कर्म कार्य कर रहा है, उसे इस सूत्र में स्पष्ट किया गया है।

साधक के चित्त में जैसी वासना का स्फुरण हो रहा हैं, उस समय पूर्ण वैराग्य से संयुक्त मननशील साधक यह देखता है कि मेरा कहीं लगाव नहीं है, कहीं भोगों में मेरी आसक्ति नहीं है। यह जो चित्त में वासना का स्फुरण है यह संस्कार जनित है या संगदोष के कारण है। उसी सकंल्प से सात्विक राजस एवं

तामस गुण का भी पता चलता है। शुभ संकल्प भजन में प्रवत्त करने वाले, शास्त्र में रूचि उत्पन्न करने वाले, शुभ कर्मो की तरफ प्रेरित करने वाले, सभी संकल्प सात्विक गुण की विद्यमानता में बने कर्माशय को स्पष्ट करते हैं, चित्त की अभिमान शून्य अवस्था भी सात्विक गुण की प्रधानता की अभिव्यक्ति करता है, इसी प्रकार अभिमान, सम्मान तथा राग-द्वेष के साथ उठने वाला संकल्प राजस गुण की अभिव्यक्ति करता है। आलस्य, निद्रा, प्रमाद इत्यादि से सम्बन्धित चित्त में विचारों के परिवर्तन के साथ ही साधक अपने संचित कर्माशय का आभास प्राप्त कर लेता है, उसके अनुसार अपनी साधना को बढ़ा लेता है तथा सावधान हो जाता है।

भली प्रकार शान्त चित्त में उठने वाले संकल्पों से साधक अनन्त जन्मों के कर्माशयों को जानता है, वह समझता है कि ऐसा संकल्प किस जन्म एवं किस योनि से सम्बन्धित है तथा इसका भोग कितना शेष है। इन्हीं कर्माशयों से तथा साधक की लगन से साधन की अवधि भी निर्धारित होती है।

कर्माशय में पड़े संस्कार क्रम से अपना परिणाम देते हैं या बिना क्रम के। यदि क्रम में संस्कार अपना परिणाम नहीं दे पाते तो उसमें कारण क्या है? इस पर कहते हैं।

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं
स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्॥९॥

जाति, देश काल के कारण रूकावट आने पर भी समय आने पर कर्म संस्कार उदय हो जाता है क्योंकि वह स्मृति के रूप में सदैव विद्यमान रहते हैं।

मनुष्य जो भी संकल्प करता है, संकल्प के आधार पर जो भी कर्म करता है। वह सब विपाक के रूप में एकत्रित रहता है। जब जिस संस्कार का नम्बर आता है उसे पिण्डरूप में अथवा भोग के रूप में फेंकता रहता है। जीव सृष्टि के किसी कोने में तथा किसी योनि में जन्म ले लें उसे क्रम-क्रम से समस्त संस्कारों से प्रभावित होना पड़ेगा।

विटप मध्य ज्यों पुतरिका, सूत मँह कंचुक बिनहि बनाए।
मन मे यथा लीन नाना तन प्रगटत अवसर पाये॥
(विनय पत्रिका)

ऊमरि तरू विशाल तब माया। फल अनेक ब्रह्मांड निकाया।
जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहि न जानहि आना।
(रामचरित मानस)

मन के अन्तराल में अनन्त संस्कारों की रचना है, जो कर्माशय के रूप में चराचर जगत की अनन्त जीवन श्रृंखला के रूप में पड़े रहते हैं। सभी किये हुए कर्मों का चाहे वह मन द्वारा किये गये हों अथवा शरीर द्वारा, सभी का फल भोग अवश्यम्भावी है।

लेकिन महर्षि का कहना है कि योगारूढ़ साधक जब तक सतत् भजन की प्रक्रिया में लगा रहता है। ईष्ट की पूर्ण अनुकूलता रहती है। विवेक वैराग्य के साथ सतत् चिन्तन के इस अबाध क्रम में संस्कार दबे रहते हैं। प्रबल अनुराग, वैराग्य, त्याग तथा लगन द्वारा साधक का चिन्तन धारा प्रवाह होता है। इसमें ईष्ट की पूर्ण अनुकूलता रहती है इसलिए संस्कार दबे रहते हैं। साधना में थोड़ी सी शिथिलता आने पर संस्कार हावी हो जाते हैं। इसलिए संस्कारों का पार पाने के लिए ईष्ट पर निर्भर रहकर सतत् चिन्तनरत् रहना चाहिये।

साधक का चिन्तन के द्वारा एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाना जन्म है। चिन्तन करने का धरातल ही देश है। सतत् चिन्तन ही अनुकूल समय (काल) है। धारा प्रवाह चिन्तन संस्कारों को रोकता है। चिन्तन में जब भी शिथिलता होगी संस्कार उदय होंगे।

अधिकांश विद्वानों एवं लोगों के मत से ईश्वरकर्ता है मनुष्य केवल निमित्त मात्र है, लेकिन महर्षि पातंजलि का कहना है कि कर्माशयों के अनुसार मन में वासना पैदा होती है। जैसी वासना वैसा कर्म वासनाओं के द्वारा मन प्रेरित है, ईश्वर द्वारा नहीं। यही योगेश्वर श्रीकृष्ण गीता के अठारहवे अध्याय के चौदहवें एवं पंद्रहवें श्लोक में बताया कि किसी भी कार्य शुभ अथवा अशुभ के होने में अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव माध्यम है, ईश्वर नहीं।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्।।१८/१४।।
शरीरवाड्.मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।

न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतव:।।१८/१५।।

किसी भी कार्य के होने में यह पांच ही माध्यम हैं, आधार (माध्यम), कर्ता (मन), न्यारे-न्यारे करण, चेष्टा और दैव (संस्कार)।

यदि चोरी का संस्कार है तो उसमें करण लोभ एवं काम प्रधान होंगे। मोह, क्रोध, राग, द्वेष यह सब विद्यमान होंगे। चोरी के संस्कार के आते ही यदि अधिष्ठान (आधार) चोर मिल गया। चोर के मिलने पर चेष्टा वैसी ही होगी। संस्कार (दैव) जैसा है उतनी ही सफलता मिलेगी। यदि चोरी का संस्कार आया, उसके अनुकूल आधार नहीं मिला उसने चेष्टा भी नहीं की तो वह संस्कार सफल नहीं होगा, पड़ा रहेगा समय आने पर फिर जाग्रत होगा।

इसी प्रकार भजन का संस्कार उत्पन्न होता है, इसके लिए आधार सद्गुरू, करण, विवेक, वैराग्य, त्याग, अनुराग, लगन उपयुक्त हैं तो चेष्टा भी उपयुक्त होनी चाहिये। यदि कर्ता मन साथ नहीं होगा तो कर्म नहीं होगा। इन पांचों में से किसी एक की कमी है तो कर्म में सफलता नहीं मिलेगी। ईश्वर कर्ता नहीं है अपितु यह पांचों कर्ता है।

बहुत से लोग तर्क-कुतर्क करते रहते हैं कि वासनाओं की उत्पत्ति कहां से हुई, कैसे हुई? ईश्वर के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। यह सब कैसे हुआ? यदि ईश्वर से अलग हुए तो मिलने के बाद फिर अलग हो जायेगे तो मिलने से लाभ क्या है? यह संस्कार पहले हैं कि ईश्वर पहले हैं। वृक्ष पहले की बीज, अण्डा पहले की मुर्गी? इन सभी शंकाओं का समाधान करते हुए महर्षि कहते हैं कि-

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्।।१०

प्रकृति के अनादि होने से वासनाओं की भी नित्यता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी गीता के तेरहवें अध्याय में प्रकृति एवं पुरूष की अनादिता स्वीकार किया है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि।
विकारांच गुणांचैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्।। १३/१९

जब इन वासनाओं की अनादिता है, नित्यता है तो इनका अन्त कैसे होगा क्योंकि जब तक वासनाएं हैं तब तक स्वरूप की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

वासनाओं का संग्रह एवं अंत कब एवं कैसे होता है? इस पर कहते हैं-

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः॥११॥

अविद्या (हेतु) जनित फल के आश्रय का आलम्बन करने से वासनाओं का संग्रह होता है। इनका अभाव होने से वासनाओं का भी अभाव हो जाता है।

महर्षि ने साधनपाद के तेइसवें सूत्र में प्रकृति एवं पुरूष के युक्त होने को संयोग कहा है, अगले सूत्र में इस संयोग का हेतु अविद्या बताया है तत्पश्चात् प्रकृति एवं पुरूष के संयोग के अभाव होने पर कैवल्य की प्राप्ति के साथ साधना की समाप्ति है। यहां उस विषय को पुनः उठाकर साधन को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

''तस्य हेतुरविद्या'' प्रकृति एवं पुरूष के संयोग जनित समस्त दुखों का कारण अविद्या है। यहां उसी अविद्या का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि साधन पथ में अविद्या से उत्पन्न समस्त संस्कार तब तक विघ्न डालते हैं, जब तक यह पूर्णतया मिट नहीं जाते।

संसार का प्रत्येक व्यक्ति माया (अविद्या) के क्षेत्र में ही फल की इच्छा से काम करता है। माया जनित समस्त कार्य काम, क्रोध, लोभ, मोह का आलम्बन लेने से ही होते हैं। योग साधना की पराकाष्ठा में इनका अभाव होने से संग्रह किये सभी संस्कारों का अभाव हो जाता है। संस्कारों के अभाव में इससे उत्पन्न वासना का भी सर्वथा अभाव हो जाता है। इसी अवस्था को साधनापाद के पच्चीसवें सूत्र में कैवल्य कहा है।

जो वासनाएं या संस्कार जनित भोग मिट जाते हैं। उनका क्या होता है? इस पर कहते हैं-

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्॥१२॥

जो संस्कार (कर्माशय) भोग में आ गये। वह अतीत हो गये तथा जो आने वाले है वह अनागत। सभी संस्कार स्वरूप से विद्यमान रहते हैं। धर्माचरण के अनुसार सब में काल का भेद होता है।

अनन्त जन्मों के संस्कार जो जीवात्मा को अनन्त शरीरों में बांधकर भोग प्रदान करते हैं। योगारूढ़ साधक सभी संस्कारों को काट देता है। अब कोई भी संस्कार भोग नहीं प्रदान कर सकते न चित्त को ही प्रभावित कर

सकते, लेकिन वह सभी संस्कार स्वरूप से विद्यमान रहते हैं। इसीलिए प्राप्ति के बाद महापुरूष संस्कार जनित सभी भोगों एवं घटनाओं को बताते हैं। किस संस्कार का भोग काल कितना था वह कैसे आया कैसे मिट गया। कई जन्मों का सब कुछ यथावत् स्मृति में रहता है, लेकिन वह किसी विचार या संस्कार से प्रभावित नहीं होते। वह उन सभी से मुक्त होते हैं शेष बंधे रहते हैं। जैसे रस्सी जल जाने पर उसका आकार शेष रहता है उस जली हुई आकार मात्र की रस्सी से किसी को बांधा नहीं जा सकता है। सभी संस्कारों में काल का भेद होता है।

संस्कार जनित भोगों का स्वरूप कैसा है? इस पर कहते हैं-

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः॥१३॥

वह व्यक्त अर्थात् प्रकट रूप में तथा सूक्ष्म रूप में गुणों के द्वारा मन को प्रभावित करते हैं।

कुछ संस्कार ऐसे होते हैं, जिनका भोग व्यक्त रूप में दिखाई देता है। जैसे शारीरिक व्याधि, बाह्य व्यवधान, रूप, रस, गंध इत्यादि के माध्यम से विघ्न डालकर मन को प्रभावित करते हैं। कुछ संस्कार ऐसे हैं जिन्हें साधक अपने अन्दर ही महसूस करता है। ऐसे अत्यंत सूक्ष्म विकारों से चित्त में विक्षेप पैदा होता है। जैसे विचार होते हैं वैसे ही गुणों का प्रभाव भी अन्तःकरण में दिखाई देता है। गुण तीन प्रकार के होते हैं सत, रज एवं तम। इन तीनों गुणों से निर्मित संस्कार आत्मपथ में मन को मोहित करते हैं। साधक का चिन्तन जितना ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म होता जायेगा उतने ही विघ्न भी सूक्ष्म होते जायेगें।

चाहे व्यक्त हो या सूक्ष्म सभी संस्कार तीनों गुणों का विकार है। योगी को इनसे ऊपर उठना है।

व्यक्त रूप में है अथवा सूक्ष्म रूप में सभी संस्कारों का परिणाम एक है तथा संस्कारों के एवं चित्त के पूर्ण निरोध में मिलने वाला परिणाम भी एक है। इस पर कहते हैं-

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्॥१४॥

साधन के परिणाम में मिलने वाली वस्तु एक है वह है परमतत्व परमात्मा।

सम्पूर्ण संस्कारों का (सूक्ष्म अथवा व्यक्त वासनाओं का) परिणाम दुख

है तथा समस्त संस्कारों के अभाव में मिलने वाला परिणाम (परमात्मा) भी एक है।

सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत प्रसार।
नित्यानित्य विवेकिया लीजै बात विचार॥

सत्य वस्तु परमात्मा है, इसके अतिरिक्त समस्त जगत का प्रसार मिथ्या है। ऐसा निर्णय पूर्ण विवेक के द्वारा ऋषियों ने लिया है।

अभी पीछे तेरहवें सूत्र में महर्षि ने बताया कि अपने-अपने स्वभाव एवं क्षमता से धर्माचरण अर्थात् योग क्रिया में प्रवत्त होते हैं। किसी साधक की साधना कई जन्मों की है, किसी की दो चार जन्मों की है। किसी का योग पथ में पहला या दूसरा जन्म है। इस कारण योग क्रिया की पकड़ तथा उससे प्राप्त साधक की अवस्था भी भिन्न है। यही महर्षि कहते हैं कि उनके धर्माचरण में भेद है। कोई योग की पहली भूमिका में है, कोई दूसरी, कोई तीसरी, कोई चौथी, कोई पांचवी, कोई छठवीं और कोई सातवीं भूमिका के करीब है। सभी साधक अपने-अपने स्वभाव एवं क्षमता से उसी परमतत्व परमात्मा की तरफ अग्रसर हैं। योग के परिणाम में मिलने वाली वस्तु एक है वह कभी दो नहीं हो सकती।

चौ-व्यापक एक ब्रह्म अविनाशी।
सत् चेतन घन आनंद रासी॥ (रामचरित मानस)

योग के परिणाम में मिलने वाली वस्तु एक है। संस्कारों का परिणाम ''दुख'' एक है। सभी दुख रूप संस्कारों से छूटने का उपाय योग क्रिया एक है तो पृथक-पृथक मार्ग क्यों प्रतीत होते हैं। इस पर महर्षि कहते हैं-

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः॥१५॥

वस्तु (परमात्मा) एक होने के बाद भी चित्त की अवस्था भेद से अज्ञान वश अलग-अलग मार्ग प्रतीत होते हैं।

योगेश्वर श्रीकृष्ण इसी अवस्था भेद का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि ज्ञान योग एवं भक्ति योग दोनों एक हैं दोनों का परिणाम एक है। जो इन्हें एक जानता है वही यथार्थ देखता है। अज्ञानी इसे अलग-अलग मानते हैं।

सांख्य योगौ पृथग्वाला प्रवदन्ति पण्डिताः।

एक सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ अ. ५/४-५

जिस साधक की जैसी अवस्था है उसी स्तर से प्रत्येक साधक योग क्रिया में प्रवृत्त होता है। कोई साधक साधना की उन्नत अवस्था में **''दिसि अरू विदिसि पंथ नहिं सूझा। को मै चलेउ कहाँ नहिं बूझा''** कोई साधक **''राम-राम रघुपति जपत श्रवत नयन जल जात''**। कोई मन, क्रम वचन से श्रृद्धा के साथ गुरू की सेवा में लगा है, कोई मन क्रम वचन से इन्द्रिय संयम के साथ चिन्तन में रत है, कोई भावावेश में कुत्ते को भोग लगा रहा है, तो कोई भावावेश में नृत्य कर रहा है, कोई शांत चित्त से ध्यान समाधि के अभ्यास में तत्पर है। देखने में यह विभिन्न मुद्रायें अवश्य लगती हैं, लेकिन सभी साधक उसी एक परमात्मा की तरफ अग्रसर हैं। चित्त के पूर्ण निरोध काल में तथा निरोध चित्त के विलय काल में एक ही वस्तु विदित होती है।

बहुत से विद्वानों का तर्क रहता है कि जब आत्मा एक है परमात्मा एक है। जब योगी की आत्मा निर्विकार अवस्था में अपने स्वरूप भूत परमात्मा को प्राप्त होती है। उस समय समस्त शरीरों (संस्कारों) से मुक्त क्यों नहीं हो जाती। जब आत्मा एक है तो सभी शरीर धारियों को शरीर के बंधन से मुक्त हो जाना चाहिये। इसी प्रकार जब मूल चित्त एक है उसके निर्विषय होते ही सबको निर्विषय हो जाना चाहिये। ऐसा क्यों नही है?

जिस समय निर्विषय योगी समत्व को प्राप्त करता है उस समय संसार की वस्तुओं (प्रकृति) का क्या होता है? इस पर कहते हैं

न चैकचित्ततंत्रवस्तुतदप्रमाणकं तदा किं स्यात्॥१६॥

वस्तु (प्रकृति) एक ही चित्त के आधीन नहीं है। योगी के निर्विषय होते ही प्रकृति की क्या स्थिति होगी।

संसार में जितने जीव हैं सबकी अपनी अलग-अलग प्रकृति है। इसी प्रकृति के आधीन रहकर सभी प्राणी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार पृथक-पृथक चेष्टा करते हैं। जो साधक योग की पराकाष्ठा में प्रकृति सहित मूल चित्त के विलय के साथ स्वरूप को प्राप्त होता है उसके लिए उसकी प्रकृति नष्ट हो जाती है। आदि शंकराचार्य ने ग्यारह सौ वर्ष पूर्व कहा था कि सृष्टि हुई ही नहीं। जबकि सृष्टि आज भी है। यही महर्षि कहते हैं कि कैवल्यावस्था में

जब चित्त एक हो जाता है उस संसार की क्या स्थिति रहती है। इसे साधनपाद के बाइसवें सूत्र में स्पष्ट करते हुए कहा कि जो योगी कृतार्थ हो गया अर्थात् स्वरूप प्राप्ति के साथ प्रकृति से पार हो गया। उसके लिए प्रकृति नष्ट हो गई है लेकिन जिन्होंने कोई योग साधना नहीं किया है अथवा योग के मार्ग में चल रहे हैं उनकी प्रकृति विद्यमान रहती है।

कृतार्थ प्रति नष्टमप्यनष्ट तदन्य साधारण त्वात्॥

योग नितान्त व्यक्तिगत है जो चलेगा उसी को यह स्थिति प्राप्त होगी दूसरों को नहीं। यहाँ कैवल्यपाद में भी यही कह रहे हैं कि चित्त के एकाकार हो जाने से वस्तु का क्या होता है। वह सबके लिए मिट जाती है या जो योग पथ पर चलता है मात्र उसी की प्रकृति नष्ट होती है। जिसकी प्रकृति नष्ट हो जाती है उसके लिए उस प्रकृति का क्या उपयोग तथा महत्व रह जाता है। इस पर कहते हैं-

तदुपरागापे क्षित्वाच्चिन्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्॥१७॥

सर्वथा सबसे उपराग की अपेक्षा वाले चित्त में वस्तु कभी ज्ञात रहती है कभी अज्ञात रहती है।

यहां महर्षि ने एक बात बहुत ही महत्वपूर्ण कही है कि उपराग की अपेक्षा वाले चित्त में वस्तु ज्ञात अज्ञात होती है।

बहुत से साधक योग का अनुकूल परिणाम न मिलने पर निराश होने लगते हैं। कुछ दंभ वश अपने को **''अहं ब्रह्मास्मि''** कहने लगते हैं। महर्षि कहते हैं कि साधक को सर्वप्रथम सम्पूर्ण विषयों से उपराग होने की इच्छा करनी होगी और इसी इच्छा के अनुकूल आचरण भी करना होगा तभी चित्त का सर्वथा राग रहित होना सम्भव है। जब तक कहीं राग है तब तक कैवल्य कहाँ। इस प्रकार अपेक्षित उपराग चित्त में ही जो वस्तु अज्ञात रहती है उन सबका ज्ञान हो जाता है।

मनुष्य धन की अपेक्षा करता है तभी वह धन के विभिन्न स्रोतों का पता लगाकर उन्हें क्रियान्वित करने का प्रयास करता है। रात-दिन उसी में निमग्न रहता है उसी के बारे में सोचता रहता है। इसी प्रकार विषयों के प्रति राग का परिणाम भली प्रकार समझकर साधक उन विषयों से उपराग होने की

इच्छा से योग का आश्रय लेता है। साधक को हर इच्छा स्वयं करनी पड़ती है तभी वह उसके अनुरूप चेष्टा कर पायेगा। पूज्य परमहंस महाराज जी ने अपने बारहमासी में कहा है कि **''तितिक्षा तोसों परकासी''** त्याग की इच्छा साधक को करनी है। उसके अनुरूप चेष्टा भी करनी है। त्याग की इच्छा से सतत् योग क्रिया के अभ्यास के परिणाम स्वरूप जब चित्त पूर्ण रूप से विषयों से उपराम होकर ईश्वर में विलय पा जाता है। ऐसी अवस्था में साधक की सम्पूर्ण प्रकृति भी विलय हो जाती है। ऐसे पूर्ण योगी का कहीं राग रहता नहीं है। इस अवस्था में स्वाभाविक ही अपना प्रभाव छोड़े बिना दृश्य एवं शब्द आते जाते रहते हैं जो शब्द या दृश्य चित्त के समक्ष होता है उसी के संबंध में योगी जानता है। यह सब स्वाभाविक होता है। कोशिश करके वह किसी के बारे में नहीं जानता है। जिस समय जो दृश्य एवं शब्द चित्त के समक्ष होगा उसी का ज्ञान होगा दूसरों का नहीं क्योंकि योगी सदैव अपने स्वरूप में ही निमग्न रहता है।

पूर्ण वीतराग चित्त में स्वयं का कोई संकल्प नहीं होता है न कहीं किसी प्रकार की आसक्ति होती है। ऐसे निर्मल दर्पण की भांति चित्त के सामने कोई भी दृश्य या संकल्प आता है वह मात्र उसे जान लेता है लेकिन जीवात्मा को सदैव वृतियाँ याद रहती है। इस पर कहते हैं-

सदा ज्ञाताश्चित्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्॥१८॥

चित्त वृत्तियों के स्वामी आत्मा (पुरूष) को समस्त वृत्तियां ज्ञात रहती हैं क्योंकि वह अपरिणामी है, सम्पूर्ण वृत्तियों का साक्षी है।

मन के अन्तराल में अनन्त वृत्तियां हैं। जिस वृत्ति के साथ मन रहता है, उसे जीव भली प्रकार जानता है। जो संकल्प आता है उसे भी जानता है। कर्म एवं संकल्प कैसे भी हों, योग संबंधी हों अथवा भोग संबंधी, जीवात्मा सबको भली प्रकार जानता है। भजन की अच्छी स्थिति हो या हल्की स्थिति, संस्कार से संबंधित हल्के भारी एवं मध्यम सभी प्रकार के भोगों से जीवात्मा परिचित होता है। मन कौन सा संकल्प कर रहा है कैसे कर रहा है सबको जानता है।

इसी विषय पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता के तेरहवें अध्याय में स्पष्ट

प्रकाश डालते हुए कहा है कि-

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृति रुच्यते।
पुरूषः सुख दुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ अ.१३/२०

प्रकृति कार्य एवं करण में हेतु है और पुरूष (आत्मा) सुख-दुख के भोगने में हेतु है। मन के द्वारा बनाए गये संस्कारों के अनुसार आत्मा ही तो विभिन्न योनियों में जाता है। इसलिए यह सम्पूर्ण वृत्तियों का साक्षी भी है क्योंकि इसी की विद्यमानता में मन संकल्प करता है। इसी की विद्यमानता में प्रत्येक कार्य होता है तो यह सबका साक्षी भी है तथा वृत्तियों के माध्यम से सुख-दुख का अनुभव करने वाला है। साधनपाद में महर्षि ने दृष्टा के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट किया है कि **''दृष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रतयानुपश्यः''** दृष्टा यद्यपि पूर्ण शुद्ध है लेकिन यह वृत्तियों के अनुरूप देखने वाला होकर वैसा ही दिखने लगता है।

अभी सत्रहवें सूत्र में बताया कि सबसे उपराम चित्त में कभी वस्तु का ज्ञान होता है कभी नही होता है, ऐसे उपराम अवस्था वाले योगी के सामने जब स्वतः कोई दृश्य अथवा संकल्प आता है अथवा जिसे वह जानना चाहता है वह उसी के वारे में जानता है। यदि बार-बार स्वयं किसी के बारे में सोंचने लगे तो रास्ते से भटकने का भय है, लेकिन दृष्टा पुरूष को समस्त वृत्तियाँ सदैव ज्ञात रहती हैं क्योंकि दृष्टा की उपस्थित में प्रत्येक संकल्प एवं प्रत्येक कार्य होता है। समस्त इन्द्रियों एवं वृत्तियों को प्रकाशित करने वाला मात्र दृष्टा है।

चित्त को दृष्टा की भाँति सब वृत्तियाँ सदैव क्यों नहीं ज्ञात रहती हैं इस पर कहते हैं-

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्॥१९॥

क्योंकि चित्त जो स्व (पुरुष से) प्रकाशित है उसी स्वरूप का चिन्तन करता है दृश्यों का नहीं।

योगी सदैव अपने स्वरूप के चिन्तन में निमग्न रहता है तभी वह विषयों का पार पाकर कैवल्य पद प्राप्त करता है। यदि योगी कभी संसार के दृश्यों का अर्थात् प्रपंच का, कभी ईश्वर का चिंतन करे तो वह कैवल्य को कभी नहीं प्राप्त कर सकता है। चित्त के सर्वथा निर्विषय होने पर ही कैवल्य की प्राप्ति

सम्भव है, इसलिए महर्षि कहते हैं कि जो चित्त अहर्निश स्वरूप चिन्तन में अनुरक्त रहता है, वह सांसारिक दृश्यों का चिन्तन नही कर सकता। उसे सांसारिक चिन्तन का अवकाश कहॉ है?

क्या संसार के चिन्तन के साथ ईश्वर का चिन्तन नहीं किया जा सकता है? क्या योगमार्ग तथा भोग मार्ग में मनुष्य एक साथ नहीं चल सकता है? क्या सांसारिक चिन्तन (दृश्य) एवं दृश्यों के साथ ईश्वर चिन्तन सम्भव है? इस पर कहते हैं-

एकसमये चोभयानवधारणम्॥२०॥

चित्त एक समय में दो वस्तुओं को नहीं धारण कर सकता है।

मोह की प्रबलता के कारण जिनके अन्दर योग पथ में सम्पूर्ण समय देने की क्षमता नहीं है। ऐसे लोग कहते हैं कि संसार एवं परिवार की जिम्मेदारी देखो क्योंकि यह भी उसी ईश्वर का दिया हुआ है। ईश्वर की दी हुई वस्तु का तिरस्कार करना उसका अपमान होगा। इसलिए सांसारिक जिम्मेदारियों के साथ ईश्वर का चिन्तन भी करते चलो। यही अर्जुन भी सोंचता था कि पारिवारिक संबंधों के साथ-साथ योग पथ का आचरण सम्भव है, लेकिन सद्गुरू श्रीकृष्ण से वास्तविकता को समझने के बाद वह पूर्णतः ईश्वर चिन्तन में लग गया और लक्ष्य पा गया।

मोह के कारण ही लोग बचाव पक्ष में अनेकों उदाहरण दिया करते हैं लेकिन महर्षि पातंजलि का कहना है, कि मन एक समय में एक ही काम कर सकता है या तो मन संसार का चिंतन करेगा या भगवान का दोनों का चिन्तन एक साथ नही कर सकता है। महर्षि की तरह सभी महापुरूषों का मत एक है इसलिए ईश्वर दर्शन के प्रबल जिज्ञासुओं ने महलों को छोड़कर एकान्त जंगल में सतत् ईश्वर चिन्तन किया। जबकि वह महल में भी चिन्तन कर सकते थे लेकिन ऐसा सम्भव नहीं है। चित्त का एक रस होना असम्भव है। घृत आग के पास रहकर पिघले न ऐसा सर्वथा असम्भव है। कोई घर में बैठकर चिन्तन कर रहा है उसी समय कोई आकर पत्नी को, बच्चे को, भाई को या माता-पिता को घसीटने लगे तो क्या ऐसी परिस्थिति में उस साधक का मन साधना में लगेगा? किसी भी प्रकार की पारिवारिक समस्या आने पर क्या भजन में मन लग सकता

है? भजन नितान्त एकान्त का विषय है। इसलिए तुलसी दास जी ने भी कहा है कि-

तुलसी मन तो एक है भावै जहां लगाव।
भावै हरि की भक्ति कर भावै विषय कमाव।।

मन एक समय में एक ही काम कर सकता है क्योंकि-

जहां राम तहं काम नहिं जहां काम नहिं राम।
तुलसी कबहु न रहि सके रवि रजनी एक ठाम।।

जैसे सूरज और अंधेरा एक साथ नहीं रह सकते उसी प्रकार चित्त ईश्वर का एवं संसार का एक साथ चिन्तन नहीं कर सकता है।

संत कबीर जी ने भी कहा है कि-

प्रेम गली अति सांकरी तामें दो न समाय।
जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि है मैं नाय।।

पूज्य गुरूदेव भगवान कहा करते हैं कि मन को सदैव कहीं न कहीं नाम, रूप, लीला, धाम में लगाए रखो। यदि मन को एक क्षण भी अवकाश दोगे तो माया में काम करेगा और दुःख का कारण बनेगा।

यह बात अलग है कि प्रत्येक व्यक्ति परिवार में ही पैदा होता है, वहां रहकर वह ईश्वर प्राप्ति (योग) का अभ्यास तो कर सकता है, लेकिन समाधि तक पहुंचना सर्वथा असम्भव है। योग की पराकाष्ठा में मन के अन्तराल में एक भी संकल्प एवं संस्कार नहीं रहता है ऐसी स्थिति में ही चित्त ईश्वर में विलय होता है। विलय के साथ ही योगी कैवल्य को प्राप्त होता है। इस विषय पर अग्रिम सूत्रों में प्रकाश डाला गया है।

यदि योग चिन्तन की पराकाष्ठा में कभी चित्त में सांसारिक संकल्प या दृश्य आ जाता है उस समय साधक की क्या स्थिति होती है इस पर कहते हैं-

चित्तान्तरदृश्ये वुद्धिबुद्धेरतिप्रसग स्मृतिसंकरश्च।।२१।।

चित्त के अन्तराल में दूसरे दृश्यों के मिल जाने से उसके अधिक समय तक रूकने से बुद्धि में अति प्रसंग दोष के कारण स्मृति में भी वर्णसंकर दोष आ जाता है।

जिस समय योगी सर्वथा असंगभाव से योग चिन्तन में अनुरक्त होता

है, इस अवाध चिन्तन की अवस्था में यदि कोई संकल्प आता है तो जो बुद्धि ईश्वर से संयुक्त होती है। वह उस संकल्प से संयुक्त होकर स्मृति में वर्ण संकरता के दोष को उत्पन्न करती है। यदि इसका निवारण साधक नहीं करता है तो उसका पतन निश्चित होता है

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ अ.२/६३

पूज्य गुरूदेव भगवान चित्त की शान्त अवस्था का चित्रण एक उदाहरण देकर समझाया करते हैं कि जैसे शांत तालाब में एक भी लहर नहीं उठती उस शान्त तालाब में यदि कोई एक कंकड़ी फेंकता है तो उस कंकड़ी की ठोकर से एक लहर उठकर किनारे तक चली जाती है, एक लहर के पीछे दूसरी लहर उठती है। इस प्रकार लहरों का तांता लग जाता है, जिससे तालाब का पानी क्षुब्ध हो जाता है।

महर्षि का भी यही कहना है कि ईश्वर चिन्तन करते-करते चित्त की शान्त अवस्था में संसार संबंधी एक भी दृश्य एवं संकल्प उत्पन्न होकर हजारों संकल्पों को उत्पन्न कर देता है। संकल्पों का यह प्रसंग अति प्रसंगता का रूप ले लेता है। जैसे किसी मित्र का संकल्प आया, इसके बाद उसके मित्र का, फिर दूसरे मित्र का, फिर मित्रों के साथ बिताए हुए क्षणों का स्मरण होगा, फिर उनके साथ हुई घटनाओं का स्मरण होगा। यह क्रम बढ़ता ही जाता है जिस कारण साधक साधना से बहुत दूर हो जाता है। शान्त चित्त में परिवार के एक सदस्य का संकल्प सभी सदस्यों के रूप को सामने खड़ा कर देता है।

महर्षि कहते हैं कि योग की परिपक्व अवस्था में मन के अन्तराल में सदैव ईश्वर का प्रसंग चलता रहता है। एक संकल्प आने पर मन जब उससे जुड़ जाता है तब ईश्वर का प्रसंग छोंड़कर विषय का प्रसंग चलने लगता है। यह प्रसंग अधिक समय तक चलने से अति प्रसंग दोष उत्पन्न करता है। जिस स्मृति में योग चिन्तन था, सद्गुरू का स्वरूप था, अति प्रसंग दोष के कारण सांसारिक दृश्य एवं संकल्प आकर स्मृति में संकर दोष उत्पन्न हो जाता है जो साधक को साधना से अलग कर देता है।

जो साधक मायिक कारणों से उत्पन्न चित्त के दोषों को तत्काल हटा

देता है, उसमें उलझता नहीं है, उसकी अवस्था कैसी होती है? इस पर देखें-

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्॥२२॥

चित्त का अप्रतिहत गति से बढ़ते रहने पर जो अक्रिय एवं असंग परमात्मा है उससे तदाकार बुद्धि संवेदनशील होकर स्वरूप ज्ञान के योग्य होती है।

परम् पुरूष परमात्मा क्रिया रहित एवं असंग है। अनवरत योग चिन्तन में रत साधक चित्त के पूर्णतः निर्दोष होने पर तदाकार अर्थात् ईश्वर के आकार में ढलने के योग्य होता है उस समय उसकी बुद्धि में स्वरूप ज्ञान की क्षमता भली प्रकार होती है। इस अत्यंत संवेदनशील अवस्था में साधक अत्यन्त सूक्ष्म संकल्प के प्रति भी सतर्क रहता है, ऐसे साधक की गति अप्रतिहत होती है अर्थात् निर्वाध गति से बढ़ते हुए वह मंजिल को प्राप्त करता है।

निर्वाध गति से बढ़ने वाले साधक की बुद्धि जब तंद्रुप हो जाती है तो उसका परिणाम क्या है? इस पर कहते है।-

दृष्टदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्॥२३॥

दृष्टा एवं दृश्य से संयुक्त चित्त सम्पूर्ण अर्थ की प्राप्ति वाला हो जाता है।

योग दर्शन में समाधिपाद के दूसरे एवं तीसरे सूत्र में महर्षि ने क्रमशः बताया कि चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है। सम्पूर्ण चित्त की वृत्तियों का निरोध होने पर दृष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इसी को यहां पुनः स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मन की निर्विकार अवस्था में सभी इन्द्रियाँ जब भली प्रकार शान्त होकर निर्मल हो जाती है, इस समय दृष्टा का स्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ने से सभी इन्द्रियां तदाकार हो जाती है अर्थात् दृष्टा के समस्त गुण इन्द्रियों में प्रवाहित हो जाते हैं। यह आत्मा (दृष्टा) और परमात्मा (दृश्य) की आमने-सामने की अवस्था है।

समस्त सांसारिक दृश्य प्रपंच के सर्वथा शान्त होने पर ही योगी कैवल्य के योग्य होता है, इस अवस्था में मात्र परमात्मा ही दृश्य के रूप में शेष बचता है, शेष सभी दृश्य शान्त हो जाते हैं। इस समय योगी सर्वत्र अपने आराध्य को ही देखता है **''सियाराम मय सब जग जानी''**, **''स्वर्ग नर्क**

अपवर्गसमाना। जहं तहं देखि धरे धनु बाना।'', **''ईशावास्यमिदं सर्वम्''** की दृष्टि हो जाती है। इस अवस्था के बाद तत्काल चित्त विलय पा जाता है। यही सर्वार्थ सिद्धि है, इसके बाद कुछ भी पाना शेष नहीं रहता है। चित्त का कार्य शेष हो जाता है।

सर्वार्थ सिद्धि प्राप्त योगी की अन्य अवस्था का चित्रण करते हुए कहते हैं कि-

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्।२४

उस समय परार्थ के साथ असंख्य वासनाऐं भी नष्ट हो जाती हैं।

मन के अन्तराल में अनन्त जन्मों के जो असंख्य वासना रूपी संस्कार पड़े रहते हैं, दृष्टा एवं दृश्य के विलय के साथ सब नष्ट हो जाते हैं यही परार्थ है। पर+अर्थ = परार्थ जो सबसे परे परमात्मा है जिससे बड़ा सृष्टि में कोई अर्थ नहीं है। उस परमात्मा रूपी अर्थ की प्राप्ति ही सर्वार्थ सिद्धि है।

इस अवस्था को प्राप्त योगी के अन्तः करण में यदि कोई संकल्प आता भी है तो वह भली प्रकार जानता है कि यह मेरे नहीं हैं किसी अन्य के हैं इसलिए वह संकल्प बिना कोई प्रभाव छोड़े शान्त हो जाते हैं।

दृष्टा एवं दृश्य जब एक दूसरे के रंग में रंग जाते हैं अर्थात् योगी जब अपनी आत्मा को ईश्वरीय गुण धर्मों से ओत-प्रोत देखता है, इसके बाद योगी क्या सदैव इसी अवस्था में रहता है? इस पर कहते हैं-

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः।।२५।।

इस विशेष दर्शन के साथ योगी आत्मभाव की भावना से भी निवृत्त हो जाता है। **''पुरुष विशेष ईश्वर''**, इस विशेष दर्शन के साथ योगी सम्पूर्ण वृत्तियों से निवृत्त हो जाता है।

अभी तेइसवें सूत्र में महर्षि ने कहा कि दृष्टा और दृश्य से संयुक्त चित्त सब अर्थों वाला हो जाता है, उसी स्थिति को इस सूत्र में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अन्तःकरण की पूर्ण शुद्धता में योगी समस्त भूत प्राणियों में एक ही आत्मा को देखता है तत्पश्चात् परमात्मा में विलय के साथ इस आत्मभाव से भी निवृत्त हो जाता है।

साधनाकाल में अनन्त आसुरी वृत्तियों का निरोध तत्पश्चात् दैवी

वृत्तियों से भी वैराग्य हो जाय। प्रथम आसुरी वृत्तियों से निवृत होना है तत्पश्चात् दैवी वृत्तियों से निवृत्त होना है। साधना में प्राप्त विभूतियों के प्रति आसक्ति से निवृत्त होना है। इस प्रकार क्रमशः प्रत्येक वृत्ति से निवृत्त होते-होते अन्त में जो आत्म भाव **''ईसावास्यमिंद सर्वम्''** सियाराम मय सब जग जानी की वृत्ति है उससे भी निवृत्त होकर योगी अपने स्वरूप को प्राप्त होता है। आत्मभाव की वृत्ति अन्तिम वृत्ति है इसलिए इस वृत्ति से निवृत्त होने को महर्षि ने विनिवृत्ति अर्थात् विशेष रूप से निवृत्त होना कहा है। इस अवस्था में योगी ''अहं ब्रह्मास्मि'' का अनुभव करता है। यह अवस्था योग पथ पर क्रमशः चलकर योग की पराकाष्ठा में परिणामकाल में प्राप्त होती है। **''स असावासो पुरूषः सोहंऽस्मि'' (ईशावास्योपनिषद्)** बहुत से विद्वान साधन श्रम से बचने के लिए कहने लगते हैं मैं शुद्ध हूँ, मैं बुद्ध हूँ। यदि ऐसा है तो आत्मा पृथक प्रभाव वाली क्यों है? वास्तव में ऐसा कुछ भी नहीं है। योग के परिणाम में सभी महापुरूष एक ही परिणाम को प्राप्त होते हैं, इस अवस्था में सबका प्रभाव एवं अनुभव एक जैसा है। मान लीजिए अग्नि परमात्मा है, उसे विद्वान-अविद्वान कोई भी स्पर्श करेगा तो वह अग्नि का एक जैसा गुण बतायेगा। ईश्वर पथ में कोई पढ़ा हो अथवा अनपढ़ तत्व स्पर्श के साथ सबको एक जैसा अनुभव, एक जैसा ज्ञान प्राप्त होता है। सर्वत्र आत्मभाव की भावना के कारण पूज्य परमहंस जी महाराज (गुरूदेव के गुरू) लगभग डेढ़ वर्ष तक दातून नहीं किया। गुरूदेव के पूछने पर बताया कि दातून तोड़ने से भी कष्ट प्रतीत होता था। ऐसा लगता था जैसे हमें कोई कष्ट दे रहा है, लेकिन योगी को इस भाव से भी निवृत होना पड़ता है ऐसा स्वरूप प्राप्ति के बाद ही संभव है।

एक बार हम बद्रीनाथ की यात्रा पर गये थे, एक अच्छे संत का नाम सुनकर हम उनके दर्शनार्थ गये, यथोचित् अभिवादन के बाद संकेत मिलने पर हम समीप ही बैठ गये तत्पश्चात् हमने कहा कि आप एक अच्छे संत है। कृपया यह बताए कि जब ईश्वर एक है, उसको जानने का एवं पाने का एक ही मार्ग है, योग क्रिया से किया हुआ निर्मल मन तो संसार में अनेकों क्रियायें एवं अनेकों सिद्धांत क्यों है? हमारी बात सुनकर मुस्कराकर बोले नारायण जब हम शुद्ध हैं, बुद्ध है, ब्रह्म है तब क्रिया किसके लिए करें यह क्रिया एवं सिद्धांत भी

एक अज्ञान है, वह बोले हमारा, आपका, सबका वही स्वरूप है, लोग व्यर्थ में साधन श्रम करते हैं। हमने कहा महाराज जी ऐसा ज्ञान सबको देकर सबको दुख मुक्त किया जा सकता है, साथ ही हमने कहा कि क्या आत्मा छोटी बड़ी होती है? उन्होंने कहा नहीं होती है, हमने कहा देखने में तो ऐसा ही लगता है। भगवान बुद्ध का प्रभाव कुछ और है, भगवान श्रीकृष्ण एवं भगवान श्री राम का प्रभाव कुछ और है, मीरा, रैदास एवं संत कबीर इत्यादि महापुरूषों का प्रभाव कुछ और ही दिखाई देता है। यह भिन्न-भिन्न प्रभाव क्यों दिखाई देता है? जब सबकी आत्मा एक है तो एक जैसा प्रभाव सबका होना चाहिये। महात्मा जी चुप हो गये, चुप्पी को तोड़ते हुए हमने पुनः कहा कि हम तो साधारण जीव हैं, आप ब्रह्म हैं, श्रीकृष्ण भी ब्रह्म थे, उन्होंने गीता में अर्जुन को जो उपदेश दिया था उस गीता का आप अर्थ समझा दें क्योंकि ब्रह्म से कुछ भी छिपा नहीं होता। हमारी बात सुनकर वह झेंप से गये, हमने सोचा इन्हें कष्ट हो रहा है। उनके कुछ विद्वान भक्त भी बैठे थे बाद में हमने उन्हें सम्मानित किया तत्पश्चात् अपने गंतव्य की ओर चल पड़े।

वास्तव में योगपथ में चलकर जिस योगी ने स्वरूप प्राप्ति के साथ निवृत्ति पाई है, उससे कुछ भी छिपा नहीं रहता वह श्रोत्रिय हो जाता है **''बोध यथारथ वेद पुराना'' (रामचरित मानस)** ऐसे महापुरूष संसार में हुए। सभी महापुरूषों की वाणी में निहित यथार्थ सत्य को जानता है।

साधक ने योगपथ में बहुत सी ईश्वरीय विभूतियों को देखा तथा योग की स्थितियों को देखा लेकिन महर्षि ने किसी को विशेष दर्शन की संज्ञा नहीं दी। आत्मभाव विषयक भावना की निवृत्ति को विशेष दर्शन कहा तथा विशेष निवृत्ति कहा। इसी दर्शन के लिए तो योग का आचरण किया था, यही योग का फल है।

अब अगले सूत्र में विशेष दर्शन की विशेषता के संबंध में बताते हैं।

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्॥२६॥

उस समय योगी का चित्त ईश्वरीय प्रकाश से प्रकाशित होकर विवेक से झुका हुआ कैवल्य गामी होता है।

साधना पथ में विवेक का अत्यधिक महत्व है, इसके बिना साधक सत्य

असत्य का निर्णय लेने में असमर्थ होता है, ऐसी परिस्थिति में वह एक कदम योगपथ में नहीं चल सकता है।

भगवान श्रीराम ने लक्ष्मण को बताया कि जहां तक ब्रह्मा की सृष्टि है वहां तक गुण और अवगुण हैं। योग पथ का पथिक न किसी के गुण देखता है न किसी के दोष देखता है, वह तो अहर्निश ईश्वर चिन्तन में अनुरक्त रहता है, तभी संसार का पार पाकर स्वरूप की प्राप्ति सम्भव है। यदि साधक ईश्वर चिन्तन छोड़कर किसी के गुण अथवा दोष देखता है तो वह अविवेकी है, **''सुनहू तात माया कृतगुण अरू दोष अनेक, गुण यह उमय न देखिये देखिय सो अविवेक॥''** अहर्निश साधक को योग क्रिया में प्रवत्त रखता है, इस अभ्यास के परिणामस्वरूप साधक एक दिन कैवल्य को प्राप्त होता है। यही महर्षि कहते हैं कि विवेक की पराकाष्ठा में योगी विशेष दर्शन के साथ कैवल्यगामी होता है।

विवेक में निमग्न कैवल्यगामी योगी के समक्ष किस प्रकार के विघ्न आ सकते हैं। इस पर कहते हैं-

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः॥२७॥

उस विवेक जनित समाधि के अन्तराल में संस्कार जनित संकल्प आ जाते हैं।

साधक का चित्त भली प्रकार समाधि के अन्तराल में शान्त होता है, इस अवस्था में कभी-कभी सजातीय संकल्प अर्थात् दैवी सम्पत्ति के अन्तर्गत संकल्प आ जाते हैं। समाधि में ऐसे संकल्पों का आना भी विघ्न है क्योंकि अब इनकी आवश्यकता नहीं है। दैवी सम्पत्ति का परिणाम निकल आने पर इनका प्रयोजन शेष हो जाता है। योगी के लिए इनका कोई उपयोग नहीं रहता है।

परमशान्त अवस्था में सजातीय संकल्प भी एक विघ्न है, इसलिये-

हानमेषां क्लेशवदुक्तम्॥२८॥

इन संस्कारों का विनाश अविद्या, अस्मिता, रागद्वेषादि क्लेशों की तरह कहा गया है।

जैसे भोग संबंधी चिन्तन करने पर भोग संबंधी संस्कारों का निर्माण होता है, उसी प्रकार योगारूढ़ साधक के द्वारा ईश्वर चिन्तन करने से

तत्सम्बन्धी संस्कार बनते हैं। इसे महर्षि पातंजलि ने समाधिपाद में ऋतंभरा प्रज्ञा से निर्मित संस्कारों द्वारा अविद्या जनित सम्पूर्ण संस्कारों को नष्ट करके तत्पश्चात् ऋतंभरा प्रज्ञा से निर्मित संस्कारों से उपराम होकर योगी निर्बीज समाधि को प्राप्त होता है। उसी विषय पर यहाँ पुनः प्रकाश डालते हुये कहते हैं कि धर्म मेध समाधि (जिसे समाधि पाद में निर्बीज समाधि कहा है) प्राप्त करने के लिए सजातीय संस्कारों से अविद्या की भांति उपराम हो जाना चाहिये क्योंकि भजन में प्रवत्त करने वाले संस्कारों से भी योगी का लगाव हो जाता है। इस आसक्ति के मिटते ही योगी चित्त के पूर्णतया विलय के साथ निर्बीज समाधि को प्राप्त हो जाता है।

पूज्य गुरूदेव भगवान को कई बार अनुभव में आया कि भजन अजीर्ण हो गया है, अब मत करो लेकिन भजन के प्रति आसक्ति के कारण लगे ही रहते थे, लम्बे समय के बाद इस स्वाभाव से विरत हो पाये। यही महर्षि कहते हैं कि विद्या जनित संस्कारों को जिनसे ईश्वर की प्राप्ति होती है, उनसे भी अविद्यादि की भांति उपराम हो जाना चाहिये, इसे अनेक दृष्टान्तों के माध्यम से महापुरूषों ने समझाने का प्रयास किया है। कैटभ को मारने के बाद देवी ने मधु को भी मार दिया, निशुम्भ को मारने के बाद देवी ने शुम्भ को भी मार दिया, इसी अवस्था को रामायण में शत्रुघ्न द्वारा लवणासुर का वध करके तथा असुरों (आसुरी सम्पत्ति) के नष्ट होने पर श्रीराम द्वारा वानरी सेना (दैवी सम्पत्ति) को विदा करके समझाया गया है।

समाधि अवस्था में साधक कभी-कभी योगिक उपलब्धियों के संबंध में प्रताप भानू की तरह अजरता-अमरता का विचार करने लगता है, ऐसे विचार भी एक प्रकार के विघ्न हैं इनसे उपराम होने पर योगी किस परिणाम को प्राप्त होता है। इस पर देखें-

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा-विवेकख्यातेर्धर्ममेधः समाधिः।२९।

जिस योगी का वैराग्यादि दैवी गुणों में भी वैराग्य हो जाता है उसे पूर्ण निर्मल विवेक के साथ धर्म मेध समाधि की प्राप्ति होती है।

योगी जिस उद्देश्य से योग क्रिया का आचरण करता है उसकी पूर्ती

होने पर योग क्रिया शेष हो जाती है, फिर योगक्रिया का योगी के लिए कोई उपयोग नहीं रह जाता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि अब मेरे लिए कोई भी कर्तव्य कर्म शेष नहीं है, न कोई अप्राप्त वस्तु प्राप्त करने योग्य है अर्थात मैं पूर्णकाम हूँ, फिर भी पीछे वालों के हित की इच्छा से सावधान होकर कर्म अर्थात् भजन में बर्तता हूँ।

दैवी सम्पत्ति के द्वारा आसुरी सम्पत्ति को सर्वथा निर्मूल करके योगी ईश्वर को प्राप्त होता है तत्पश्चात् दैवी सम्पत्ति अपना कार्य करके शान्त हो जाती है। अब उसका उस योगी के लिये कोई उपयोग नहीं रहता है।

दैवी गुण विवेक, वैराग्य, शम, दम, त्याग, अनुरागादि से वैराग्य होने पर योगी धर्ममेध समाधि को प्राप्त होता है साधना के आरंभ में विषयों का त्याग, ईष्ट के प्रति अनुराग, भोगों से सर्वथा वैराग्य, विवेक द्वारा सतत् चिन्तन में लगने की क्षमता इस प्रकार अनन्त दैवी गुणों द्वारा अनन्त आसुरी गुणों पर विजय प्राप्त करके योगी अपने स्वरूप को प्राप्त होता है। अब दैवी गुणों की आवश्यकता नहीं है, इसलिये इन गुणों से भी वैराग्य होने पर योगी पर वैराग्य की अवस्था में चला जाता है अर्थात दैवी सम्पत्ति के राग से निवृत्त हो जाता है। जब तक विकारों का अन्त नहीं होता है तब तक दैवी गुणों से राग करना पड़ता है। दैवी गुण का कार्य पूरा होने पर इससे भी वैराग्य हो जाता है अर्थात दैवी गुणों के अभिमान एवं राग से योगी निवृत्त हो जाता है। नौका के द्वारा नदी पार करने के बाद कोई भी उस नौका में नहीं बैठा रहता उसे छोड़कर दूसरा किनारा पकड़ लेता है।

''धारयति इति धर्मः'' जो संसार को धारण करता है वह धर्म है। योगी पूर्ण निर्मल विवेक के साथ धर्ममेघ अर्थात् ईश्वर को प्राप्त कर लेता है। इसी तथ्य को विभूतिपाद के पचासवें सूत्र में कहा कि ''तद्वैराग्यादवि दोषवीजक्षये कैवल्यम्''। यही भगवान श्रीराम का अश्व मेध यज्ञ संपन्न होना है।

धर्ममेघ समाधि अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति के बाद ही योगी अविद्यादि क्लेशों से तथा कर्म से छुटकारा पाता है। इसी पर कहते हैं-

ततः क्लेशकर्मनिवृतिः॥ ३०॥

धर्म मेध समाधि के बाद योगी अविद्यादि क्लशों से तथा कर्म से सर्वथा निवृत्त हो जाता है।

साधनपाद के तीसरे सूत्र में महर्षि ने बताया कि अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष एवं अभिनिवेष मुख्यतः पांच वृत्तियाँ क्लेश का कारण हैं। समाधिपाद के चौवीसवें सूत्र में बताया कि अविद्यादि क्लेशों से कर्म संस्कारों से सर्वथा छुटकारा पाने वाला पुरूष विशेष ईश्वर है, यही धर्म मेध समाधि का आशय है। धर्ममेघ समाधि अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति के साथ ही योगी कर्म अर्थात् योग क्रिया तथा दुखमूलक अविद्यादि से निवृत्त हो जाता है।

योग क्रिया से क्रमशः क्लेशों से निवृत्ति तथा क्रिया के परिणाम में परमात्मा की प्राप्ति के साथ योग क्रिया से भी योगी निवृत्त हो जाता है। यहीं पर वैराग्य है यदि परमात्मा से श्रेष्ठ कुछ और होता तो योगी अवश्य प्रयत्न करता। परमात्मा की प्राप्ति के साथ ही योगी सबसे निवृत्त हो जाता है, यही योगी की पूर्ण निवृत्ति है।

निवृति के साथ योगी की अन्य विशेषता का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि-

तदा सर्वावरणमलापेतस्य-
ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्॥३१॥

उस समय योगी सम्पूर्ण अज्ञान के आवरण एवं सम्पूर्ण मलावरण को तोड़कर अनन्त (परमात्मा) का ज्ञान प्राप्त करता है, इस अवस्था में ज्ञेय पदार्थ अल्प हो जाते हैं अर्थात् जानने योग्य कुछ भी नहीं है।

जीवात्मा के लिए अविद्या एक बहुत बड़ा आवरण है, इसी से प्रेरित मन अनन्त योनियों की दुःखद योनियों का निर्माण करता है। मन द्वारा निर्मित जन्म जन्मान्तरों के संचित संस्कार ही चित्त में जमा हुआ मल है जो जीव को अनन्त योनियों में फेंकता रहता है। यही मलावरण योग साधना में विक्षेप डालते हैं। यह अविद्या जनित अज्ञान एवं मलावरण योग के परिणाम में परमात्मा जो अनन्त है उसके दर्शन स्पर्श एवं विलय के साथ सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

जो अनंत है, असीम है उस परमात्मा के दर्शन एवं विलय को ही

महर्षि ने ज्ञान कहा है। जिस ज्ञान के साथ अज्ञान एवं मलावरण सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

किसी भी महापुरूष ने शास्त्र अध्ययन को ज्ञान नहीं कहा है। शास्त्रजन्य जानकारी के अभिमानवश मनुष्य अपने को श्रेष्ठ समझकर योग के आचरण से दूर हो जाता है। जबकि शास्त्र अध्ययन दुख एवं अनन्त योनियों में जाने से नहीं बचा सकता है। समस्त धर्मशास्त्र सड़क पर लगे मार्गदर्शन पट्टिका की भांति केवल मार्गदर्शन करते हैं ऐसा ईश्वर दर्शन से ही संभव है। अभी तक योगी संसार संबंधी एवं योग सम्बन्धी जो ज्ञान रखता था वह ईश्वर के साक्षात्कार के साथ अल्प लगने लगा, समस्त बाह्य ज्ञान बौने प्रतीत हुए। साधक ने जो सद्गुरू से योग सम्बन्धी जानकारी प्राप्त की थी वह भी अल्प प्रतीत होने लगी क्योंकि वह जानकारी मात्र संकेत है। वास्तविक ज्ञान तो ईश्वर दर्शन है।

महर्षि पातंजलि की भांति योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी ईश्वर दर्शन को ज्ञान कहा है, इसके अतिरिक्त सब कुछ अज्ञान है।

अध्यात्म ज्ञान नित्य तत्वं तत्व ज्ञानार्थ दर्शनं।।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।

परमात्मा का साक्षात्कार रूपी ज्ञान, योग का परिणाम है, परिणाम के साथ मिलने वाली अन्य स्थिति पर प्रकाश डाल रहे हैं-

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्।३२।

तीनों गुणों के परिणाम का जो क्रम है, उसकी पूर्णतया समाप्ति के साथ वह योगी पूर्ण कृतार्थ हो जाता है।

यह समस्त ब्रम्हाण्ड तीनों गुणों का विकार है, इन्हीं गुणों से प्रेरित होकर कर्म करने वाले उत्तम, मध्यम एवं निकृष्ट योनियों को प्राप्त होते हैं। जहाँ तक ब्रह्मा की सृष्टि है वहाँ तक तीनों गुण अपना कार्य करते हैं। इन्हीं गुणों से प्रेरित जीव अनन्त जन्मों की श्रृंखलाओं में बंधता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता के चौदहवें अध्याय में बताया कि सत्वगुण की प्रधानता में शरीर त्यागने वाला उत्तम लोकों को प्राप्त होता है। रजोगुण की प्रधानता में मनुष्यादि मध्यम लोकों को प्राप्त होता है तथा तमोगुण की प्रधानता

में अधम योनि अर्थात् पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि, शूकर, कूकर इत्यादि को प्राप्त होता है। अ.१४/१२

शरीर छोड़ते समय इन तीन गुणों में से किसी एक गुण की प्रधानता अवश्य होती है, केवल जीवन मुक्त महापुरूष तीनों गुणों से उपराम होता है। यह तीनों गुण जीव को जन्म-मृत्यु तथा उत्तम मध्यम भोगों से बांधते हैं। उत्तम लोक तथा उसके श्रेष्ठतम् भोग ही क्यों न मिल जायें, लेकिन एक दिन उनका भी अंत है ''स्वर्गहु स्वल्प अंत दुखदाई''। इसलिये योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने परम भक्त अर्जुन से कहा कि तुम गीता शास्त्र में निर्धारित कर्म अर्थात् योगक्रिया का सावधानीपूर्वक आचरण करके तीनों गुणों से ऊपर उठ जाओ अर्थात् जन्म-मरण की परिधि से ऊपर उठकर अपने स्वरूप को प्राप्त करो।

''त्रेगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुनः।

ईश्वर दर्शन अर्थात् स्वरूप प्राप्ति के साथ तीनों गुणों का परिणाम जो किसी न किसी योनि में जन्म देते हैं वह क्रम समाप्त हो जाता है, जीवन पूर्ण रूप से कृतार्थ हो जाता है।

सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्ति के नष्ट होने के बाद सम्पूर्ण देवता (दैवी सम्पत्ति) भगवान श्रीराम की स्तुति करते हुए कहते हैं कि ''कृतकृत्य प्रभो सब बानर ये निरखन्ति तव आनन सादर ये''। श्रृद्धा के साथ समस्त वानर आपका दर्शन कर रहे हैं, यह सब कृतकृत्य हो गये हैं अर्थात् ईश्वर दर्शन के बाद ही जीव कृतार्थ होता है। रामचरित मानस में ही उत्तरकाण्ड में कागभुसुण्डि ने ज्ञानी गरूड़ का समाधान करते हुए कहा कि साधना काल में अनेकों प्रकार की रिद्धियाँ-सिद्धियाँ साधक के समक्ष विघ्नरूप में उपस्थित होती हैं लेकिन प्रबल वैराग्यवान साधक इन सभी विघ्नों को पार कर जाता है, इन विघ्नों को जो पार कर गया वह ईश्वर दर्शन के साथ कृतार्थ हो गया।

छोरन ग्रन्थि पाव जो कोई।
तब यह जीव कृतारथ होई।।

वही जीवात्मा इस संसार में कृतार्थ होता है, उसी का जन्म लेना सार्थक माना गया है जिसने योगक्रिया के माध्यम से माया की दुर्भेद्य ग्रन्थि काटकर योग के परिणाम में स्वरूप की प्राप्ति की है।

अब अगले सूत्र में बताते हैं कि योगी किस प्रकार गुणों के परिणाम क्रम को समाप्त करता है। उस क्रम पर प्रकाश डालते हैं।

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः।३३।

जो क्षण का प्रतियोगी है ऐसे क्रम का परिणाम अन्त में समझ में आता है।

संसार में जितनी भी प्रतियोगितायें होती हैं उसमें भाग लेने वाले को प्रतियोगी कहते हैं, प्रत्येक प्रतियोगी क्रम-क्रम से बढ़ते हुए आगे निकल जाता है। इसी प्रकार योग पथ का प्रतियोगी क्रम-क्रम से अभ्यास करता हुआ योग की पराकष्ठा को प्राप्त होता है, परिणाम के बाद ही इस क्रम के संयम का महत्व समझ में आता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि अर्जुन तमोगुण को दबाकर रजोगुण बढ़ता है और रजोगुण को दबाकर सतोगुण बढ़ता है इस प्रकार गुणों के बढ़ने का क्रम है। प्रत्येक गुण साधक को अपने स्तर से साधन में प्रवत्त करता है, क्रम-क्रम से एक-एक गुण को दबाते हुये योग की पराकाष्ठा में तीनों गुणों के परिणाम क्रम से उपराम होकर कैवल्य स्वरूप हो जाता है। यह स्थिति योगी को एक क्षण में ही मिलती है। भरत को अगले क्षण भगवान श्रीराम मिलने वाले हैं, लेकिन वर्तमान क्षण पहाड़ जैसा लग रहा था। भरत अधीर होकर रो रहे थे शरीर छोड़ने को तैयार थे, ऐसा प्रत्येक विरही साधक के साथ होता है। ईश्वर प्राप्ति के अंतिम क्षणों में भी साधना में शिथिलता नहीं आने देना चाहिये, विरह वैराग्य के साथ साधक अपने एक-एक क्षण को योग में ढालते हुए क्रमशः आगे बढ़ता है तभी इस अवस्था को प्राप्त होता है।

इस उपर्युक्त स्थिति को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं। देखें इसी क्रम में -

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं
स्वरुपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।।३४।।

गुणातीत अवस्था में योगी पुरूषार्थ शून्य होकर कैवल्य को प्राप्त होता है, यही चित्त की शक्ति दृष्टा आत्मा का अपने स्वरूप में स्थित होना है।

संसार में लोग रात-दिन पुरूषार्थ करते रहते हैं कोई धन कमाने में

पुरूषार्थ समझता है, कोई पद का दुरूपयोग करने में पुरूषार्थ समझता है, कोई एक दूसरे को सताने में, दबाने में तथा भयभीत करने में पुरूषार्थ समझता है। जिसका जो लक्ष्य है उसकी प्राप्ति में अपना पुरूषार्थ समझता है। जीवन पर्यन्त पुरूषार्थ करने के बाद केवल दुख ही हाथ लगता है। अगला जन्म लेकर पुनः नये सिरे से पुरूषार्थ करेंगे, मात्र दुख की प्राप्ति के लिये बार-बार ऐसा पुरूषार्थ कब तक करते रहेंगे, इस पुरूषार्थ का कहीं अन्त नहीं है परिणाम दुःख ही है।

महर्षि कहते हैं कि योगी जब योग के परिणाम काल में तीनों गुणों से उपराम हो जाता है, उस काल में गुण अपना फल देना बन्द कर देते हैं, यही प्रतिप्रसव है। प्रसव अर्थात् उत्पन्न करना। जीवात्मा इन्हीं तीनों गुणों के अन्तर्गत विभिन्न योनियों में भ्रमण करता है, लेकिन योग साधना की पराकाष्ठा निर्बीज समाधि काल में योगी तीनों गुणों के परिणाम से उपराम हो जाता है अर्थात जन्म मृत्यु के बन्धन से सर्वथा छुटकारा पा जाता है, लेकिन ऐसा तभी संभव है जब योगी अपने एक-एक क्षण पर संयम करते हुये बाल के बराबर भी मन को अवकाश न देते हुए गुणों के परिणाम से ऊपर उठकर स्वरूप को प्राप्त हो जाय है। इसी अवस्था को प्राप्त करने का निर्देश योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया कि-

त्रैगुण्य विषयोवेदानिस्त्रैः गुणाः भवाऽर्जुन।

साधना काल में एक गुण दूसरे गुण को दबाकर उत्पन्न होता है यह भी प्रतिप्रसव है, क्रमशः तमोगुण फिर रजोगुण फिर सतोगुण। सतोगुण में ध्यान समाधि की क्षमता होती है, इस गुण में विकारों का प्रभाव कम होता है। समाधि की पराकाष्ठा में योगी तीनों गुणों से उपराम होकर जन्ममरण के बन्धन से छुटकारा पा जाता है, यही वास्तविक पुरूषार्थ है। अब आगे कोई सत्ता नहीं जिसके लिये पुरूषार्थ किया जाय इसलिये पुरूषार्थ शून्य हो गया अर्थात् वह परम् पुरूष परमात्मा अर्थ के रूप में शुलभ हो गया अब वह अलग नहीं है। अद्वैत की स्थित का मिलना ही पुरूषार्थ शून्यता है, उस पुरूष की अब अलग कोई सत्ता नहीं रह गई। यही कैवल्य है यही स्वरूप की स्थिति है, जो किसी तत्वदर्शी महापुरूष के सानिध्य में क्रमशः चलकर प्राप्त की जा सकती है, योग पथ में कल्पना का कोई स्थान नहीं है। साधन श्रम से बचने के लिए तथा

वैराग्य इत्यादि योग में सहायक गुणों को धारण करने में असमर्थ विद्वान मात्र ''अहं ब्रह्मास्मिं'' कहकर एवं मानकर संतोष कर लेते हैं। इतना मानकर कोई भी दुखों से तथा अनन्त योनियों में भ्रमण करने से अपने को बचा नहीं सकता है। इसके लिए तो सद्गुरू के सानिध्य में क्रमशः वृत्तियों का निरोध करते हुए ईश्वर साक्षात्कार तत्पश्चात् ईश्वर में विलय के साथ निर्बीज समाधि में योगी तीनों गुणों से उपराम् होकर कैवल्य पद प्राप्त करता है।

वारि मथे घृत होई वरू, सिकता ते वरू तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल।।

इति योग दर्शनम्

ऊँ शान्तीः शान्तीः शान्तीः

नोट-पुस्तक के अंत में सूत्रों को वर्णमाला के हिसाब से क्रमबद्ध लिखा गया है जिससे समझने में सुविधा है।

उपशम

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में अनेकों प्रकार की समस्यायें विद्यमान हैं, उनसे छूटने के लिए प्रत्येक व्यक्ति अपने वौद्धिक स्तर से प्रयत्नशील है, परम्पराओं के माध्यम से, विविधि प्रकार के अनुष्ठानों एवं साधनों के माध्यम से समस्याओं से छूटने का प्रयास करते हैं। समस्याओं का अंत तो नही होता, लेकिन जीवन का अंत बार-बार होता रहता है। जन्म के साथ ही शुरू होता है समस्याओं का सिलसिला, इन समस्याओं का सिलसिला सृष्टि के आरम्भ से अब तक यथावत् है। संसार में जितने भी अविष्कार हुए सवका दृष्टिकोंण (उद्देश्य) मनुष्य की समस्याओं का समाधान पाना है, लेकिन समस्यायें यथावत् हैं। जिस दवा से आपका रोग नहीं गया उस दवा को आप क्या कहेंगे, जिस उपाय से समस्याओं से छुटकारा नहीं मिला उस उपाय को आप क्या कहेंगे? झोपडी से लेकर महलों तक, चपरासी से लेकर राष्ट्रपति तक सभी विवशता का जीवन जी रहे हैं। धन, पद, बुद्धि एवं संसार में प्राप्त प्रतिष्ठा के प्रभाव से तथा विविध प्रकार के अनुष्ठानों एवं क्रिया कलापों के माध्यम से समस्याओं से छुटकारा नही मिल सका। सभी को विवशता का जीवन जीते देखा जाता है, कारण सबका जीवन संस्कारों पर आधारित है। संस्कार विचारों से निर्मित होते हैं जो संचित होकर बारी बारी से प्रत्येक जीवन में सुख एवं दुख के रूप में उपस्थित होते हैं। विचारों से निर्मित संस्कार जीव को अनन्त योनियों में भ्रमण कराते हैं। इस जीव को अनन्त योनियों में तब तक भ्रमण करना है दुख उठाना है समस्याओं से जूझना है जब तक एक भी संस्कार शेष है। नदी तब तक बहती है चट्टानों की तथा किनारों की ठोकरें खाती है जब तक अपने आश्रय समुद्र में प्रवेश नहीं कर जाती ।जीव तभी तक संसार में विविधि योनियों में भ्रमण करता है, दुख उठाता है, ठोकरें खाता है जब तक अपने मूल उद्गम परमात्मा में प्रवेश नहीं पा जाता है। उस परमात्मा की प्राप्ति कैसे करें जहां सम्पूर्ण समस्याओं एवं दुखों का अभाव है। इस क्षेत्र में भी विद्वानों ने अपने बोद्धिक स्तर से अनेकों प्रकार की क्रियाओं को जन्म दे डाला जिसे योगेश्वर श्री कृष्ण ने अध्याय नौ में मोघ कर्माणों, मोघाशा तथा मोघ ज्ञान कहा है। इसी को महर्षि पातंजलि ने विपर्य ज्ञान कहा है **'' विपर्ययों मिथ्या ज्ञानमतद्रुप प्रतिष्ठम्'' (स.पा.८)**

सृष्टि के सभी महापुरूष मन के द्वारा निर्मित अच्छे एवं बुरे संस्कारों को जीव के सुख एवं दुख का कारण मानते हैं। महर्षि पातंजलि भी इससे पूर्ण रूप से सहमत होकर उससे छूटने का उपाय बताते हैं। मन जब तक सोचता है, विषयों के सम्बन्ध में विचार करता है, जीव के लिए दुख एवं बन्धन का निर्माण करता है, यही मन जब योग की निर्धारित विधि से निर्विचार समाधि को प्राप्त होकर परमात्मा में विलय पा जाता है, तब जीव सम्पूर्ण बन्धनों से छूट जाता है।

महर्षि ने योग दर्शन के प्रथम सूत्र में मन सहित समस्त इन्द्रियों को अनुशासित रखकर योग के आचरण पर बल दिया है क्योंकि इन्द्रियों के माध्यम से मन विषयों का चिन्तन करता है। महर्षि ने कहा वृत्तियों (विचारों) का निरोध करो, पूर्ण निरोध में आप ईश्वर को प्राप्त होंगे अर्थात् स्वरूप में स्थित होंगे। वृत्तियों का निरोध कहाँ करना है? समाधि पाद के बत्तीसवें सूत्र में बताया कि एक तत्व परमात्मा में बार-बार अपने मन को लगाने के अभ्यास द्वारा सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध करो लेकिन किसी ने एक तत्व परमात्मा को देखा नहीं है, स्पष्ट बताया नहीं है क्योंकि वह अगोचर एवं अनिर्वचनीय है। इसको महर्षि पातंजलि ने बड़े सरल ढंग से बताकर एक बहुत बड़ी भ्रान्ति को निर्मूल कर योगाभिलाषियों के पथ को सुगम किया है। उन्होंने समाधिपाद के चौबीसवें सूत्र में अव्यक्त परमात्म भाव में स्थित पुरूष विशेष का उल्लेख करके उसका नाम जप एवं स्वरूप के ध्यान के माध्यम से प्रत्येक साधक उसी अवस्था को प्राप्त हो सकता है। अपने समय के प्रत्येक महापुरूष ने समय को भ्रान्तियों एवं कुप्रथाओं (जिसमें मानव जाति का हित कदापि सम्भव नहीं है) से निकल कर एक साफ सुथरा मार्ग दिया है, यही महर्षि पातंजलि ने किया है। उन्होंने योग दर्शन में दुख तथा दुख का कारण उसके निवारण का उपाय, उस उपाय (योग क्रिया) में आने वाले विघ्न, विघ्नों से छूटने के उपाय का क्रमिक वर्णन किया है। योग साधन प्राप्त विभूतियों (रिद्धियों-सिद्धियों) का उल्लेख तथा उनसे सावधान रहकर कैवल्य पद कैसे प्राप्त करें इसका वर्णन आप क्रम से पायेंगे।

तप ब्रह्मचर्य स्वाध्याय सत्य तथा शौचादि के सम्बन्ध में प्रचलित मान्यताओं का उन्मूलन कर स्पष्ट निराकरण के साथ प्रस्तुत किया है। यम, नियम, आसन, प्राणायम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि यौगिक शब्दों को बड़ी सहजता से बताकर इन सबके प्रति संसार में व्याप्त अनेकों प्रकार की भ्रामक धारणाओं को निर्मूल कर इनके वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन किया है।

इनका क्रमशः आचरण करके योग पथिक कैवल्य तक की दूरी कैसे तय कर सकता है, यह सभी साधन उस साधक को योग की दिव्य विभूतियों का बोध कराते हुए उसे स्वरूप में कैसे स्थित कर देते हैं, इसे किसी तत्वदर्शी महापुरूष से समझें अन्यथा भ्रम का सृजन होता ही रहेगा। मनुष्य श्रेष्ठ, अश्रेष्ठ की सीमाओं में आबद्ध होकर, वैमनस्यता की दीवारें बनाता ही रहेगा।

हर जगह मौजूद है, पर नजर आता नहीं।
योग साधन के बिना, कोई उसे पाता नहीं।।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

सूत्र वर्णानुक्रमणिका

(अ)

	पाद	सूत्र	पृष्ठ
अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्	4	12	201
अथ योगानुशासनम्	1	1	1
अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्म ख्यातिरविद्या	2	5	60
अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः	1	11	08
अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः	2	39	94
अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा	1	10	08
अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः..... 1	12	09	
अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा.....	2	3	59
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो– दाराणाम्	2	4	59
अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्	2	37	91
अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः	2	35	85
अहिंसासत्यास्तेयब्रम्हचर्यापरिग्रहा यमाः	2	30	80

(ई)

ईश्वरप्रणिधानाद्वा	1	23	28

(उ)

उदानजयाजलपVकण्टकादिष्व– sX उत्क्रान्तिp	3	39	159

(ऋ)

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा	1	48	53

(ए)

एकसमये चोभयानवधारणम्	4	20	209
एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता	1	44	51
एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः	3	13	122

(क)

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः	3	30	149
कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्	4	7	194
क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः	3	15	124

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम् ..	3	21	135	
कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूल– समापत्ते pकाशगमनम्	3	42	163	
कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः	2	43	98	
कूर्मनाडKi स्थैर्यम्	3	31	150	
कृतार्थ प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्य साधारण– त्वात क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टःपुरूष–	2	22	78	
विशेष ईश्वरः	1	24	28	
क्लेशमूलः कर्माशयो ²ष्टा²ष्टजन्मवेदनीयः	2	12	67	
क्षणत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्	3	52	179	
क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राऽः क्रमः	4	33	224	
क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदच्जनता समापत्तिः	1	41	50	
(ग)				
ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्वसंयमा– दिन्द्रियजयः	3	47	172	
(च)				
चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्	3	27	145	
चित्तान्तर²श्ये बुद्धिबुद्धरेतिप्रसX स्मृतिसंरकरp	4	21	211	
चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्	4	22	212	
(ज)				
जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाःसिद्धयः	4	1	186	
जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्ये स्मृतिसंस्कारयो–रेकरूपत्वात्	4	9	198	
जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्	2	31	81	
जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः	3	53	181	
जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्	4	2	188	
(त)				
तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः	4	27	217	
तजपस्तदर्थभावनम्	1	28	33	

तज्जयात्प्रज्ञालोकः	3	5	117	
तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी	1	50	55	
ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्	4	32	222	
ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः	4	30	220	
ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्		2	55	111
ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ–चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः	3	12	121	
ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तराया–भावp	1	29	34	
ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते	3	36	155	
ततस्त द्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्ति–र्वासनानाम्	4	8	197	
ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्	2	52	109	
ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्त–द्धर्मानभिघातE	3	45	168	
ततो द्वन्द्वानभिघातः	2	48	105	
ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयp	3	48	175	
तत्परं पुरूषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्	1	16	22	
तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यासः	1	32	42	
तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्	3	2	115	
तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः	1	13	10	
तत्र ध्यानजमनाशयम्	4	6	193	
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्	1	25	30	
तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः	1	42	50	
तदर्थ एव ²श्यस्याऽऽत्मा	2	21	76	
तदपि बहिरX निर्बीजस्य	3	8	119	
तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्²शेः कैवल्यम्	2	25	78	
तदसंख्येयवासनाभिpत्रमपि परार्थ संहत्यकारित्वात्	4	24	214	
तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्	1	3	01	

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं – चित्तम्	4	26	217
तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यान न्त्याज्ज्ञेयमल्पम्	4	31	221
तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्	4	17	206
तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः	3	3	116
तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्	3	50	176
तपःस्वाध्यायेचरप्रणिधानानि क्रियायोगः	2	1	57
तस्मिन् सति मसप्रेमसयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः	2	49	106
तस्य भूमिषु विनियोगः	3	6	118
तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्	3	10	120
तस्य वाचकः प्रणवः	1	27	37
तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा	2	27	80
तस्य हेतुरविद्या	2	24	78
तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधि	1	51	55
ता एव सबीज : समाधिः	1	46	53
तारकें सर्वविषयं सर्वथाविषयकमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्	3	54	182
तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्	4	10	200
तीव्रसंवेगानामासन्नः	1	21	26
ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः	2	10	65
ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्	2	14	68
ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः	4	13	202
ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः	3	37	156
त्रयमन्तरग पूर्वग्यः	2	7	118
त्रयमेकत्र संयमः	3	4	117
(द)			
द्रष्टा [2]शिमात्रः शुद्धेऽपि प्रत्ययानुपश्यः	2	20	75
द्रष्टृ[2]श्ययोः संयोगो हेयहेतुः	2	17	70
द्रष्टृ[2]श्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्	4	23	213
दुःखदौर्मनस्याग्मेजयत्वमसप्रम्सा विक्षेपसहभुवः	1	31	41
दुःखानुशयी द्वेषः	2	8	63
[2]ग्दर्शनश्क्त्योरेकात्मतेवास्मिता	2	6	61

[2]ष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्	1	15	21
देशबन्धश्चित्तस्य धारणा	3	1	115
(ध)			
धारणासु च योग्यता मनसः	2	53	109
ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः	2	11	66
ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्	3	28	147
(न)			
न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्	4	16	205
न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्	3	20	134
न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्	4	19	208
नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्	3	29	147
निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्	4	3	191
निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्	4	4	191
निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः	4	47	53
(प)			
परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः	1	40	49
परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वे विवेकिनः	2	15	68
परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्	3	16	124
परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्	4	14	203
पुरूषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति	4	34	224
पूर्वषामपि गुरूः कालेनानवच्छेदात्	1	26	31
प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं [2]श्यम्	2	18	71
प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य	1	34	45
प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि	1	7	3
प्रत्ययस्यापरचित्तज्ञानम्	3	19	134
प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः	1	6	3
प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्	2	47	104
प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्	4	5	192
प्रवृत्त्येलकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्	3	25	142
प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः	4	29	219

प्रातिभाद्वा सर्वम्	3	33	152
(ब)			
बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः	3	38	157
ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः	2	38	92
बलेषु हस्तिबलादीनि	3	24	140
बहिरकल्पितावृत्तिर्महाविदेह ततः प्रकाशावरणक्षयः		3	43
164			
बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परि²ष्टो दीर्घसूक्ष्मः	2	50	107
बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः	2	51	109
(भ)			
भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्	1	19	24
भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्	3	26	144
(म)			
मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्	3	32	151
मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः	1	22	27
मैत्रीकरूणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातpत्तप्रसादनम्	1	33	42
मैत्र्यादिषु बलानि	3	23	139
(य)			
यथाभिमतध्यानाद्वा	1	39	47
यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयो– ऽष्टावXानि	2	29	80
योगpत्तवृत्तिनिरोधः	1	2	1
योगाXानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः	2	28	80
(र)			
रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत्	3	46	171
(व)			
वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्ततयोर्विभक्तः पन्थाः	4	15	104
वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्	2	33	83
वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्संप्रज्ञातः	1	17	23
वितर्काहिंसादयः कृतकारितानुमोदित लोभक्रोध मोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला			

इति प्रतिपक्षभावनम्	2	34	83	
विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्	1	8	6	
विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वःसंस्कारशेषोऽन्यः	1	18	24	
विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः	2	26	79	
विशेषदर्शिनआत्मभवभावनाविनिवृत्तिः	4	25	214	
विशेषाविशेषलिङ्X मात्रालिङ्Xानि गुणपर्वाणि	2	19	73	
विशोका वा ज्येतिष्मती	1	36	47	
विषयवती वा प्रवृत्तिरूत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी	1	35	45	
वीतरागविषयं व चित्तम्	1	37	45	
वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः	1	5	2	
वृत्तिसारूप्यमितरत्र	1	4	2	
व्याधिस्त्यानसंशयप्रमदालस्याविरतिभ्रन्तिदर्शनालब्ध भूमिकत्वनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः	1	30	35	
व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षण चित्तान्वयो निरोधपरिणामः	3	9	119	
(श)				
शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः	1	9	7	
शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभाग संयमात्सर्वभूतरूतज्ञानम्	3	17	126	
शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी	3	14	122	
शाचसंतेषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः		2	32	82
शौचात्स्वाङ्Xजुगुप्सा परैरसंसर्गः	2	40	95	
श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्	1	20	25	
श्रूतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्	1	49	54	
श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयामाद्दिव्यं श्रोत्रम्	3	41	161	
(स)				
सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः	2	13	67	
स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो²ढभूमिः	1	14	10	
सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्	2	36	88	
सत्त्वपुरूषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात्स्वार्थसंयमात्पुरूषज्ञानम्	3	35	153	
सत्त्वपुरूषयोः शुद्धिसाभ्ये कैवल्यम्	3	55	149	
सत्त्वपुरूषान्यताख्यातिमत्रास्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च	3	49	175	
सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रKन्द्रियजयात्मदर्शन– योग्यत्वानि च	2	41	97	

सदा ज्ञाताpत्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरूषस्यापरिणामित्वात्	4	18	207
समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च	2	2	58
समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्	2	45	102
समानजयाज्ज्वलनम्	3	40	161
संतोषादनुत्तमसुखलाभः	2	42	97
संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्	3	18	131
सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः	3	11	120
सुखानुशयी रागः	2	7	62
सूक्ष्म विषयत्वं चलिXपर्यवसानम्	1	45	52
सोपक्रमं निरूपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञान मरिष्टेभ्यो वा	3	22	138
स्थान्युपनिमन्त्रणे सXस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसXात्	3	51	178
स्थिरसुखमासनम्	2	46	102
स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमादूतजयः	3	44	165
स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का	1	43	51
स्पप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा	1	38	47
स्वरसवाही विदुषोऽपितथारूढोऽभिनिवेशः	2	9	64
स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः	2	54	110
स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः	2	23	78
स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः	2	44	100
	(ह)		
हानमेषां क्लेशवदुक्तम्	4	28	218
हृदये चित्तसंवित्	3	34	152
हेतुफलाश्रयालम्बनेः संगृहीतत्वदेषामभावे तदभावः	4	11	201
हेयं दुःखमनागतम्	2	16	70

''इति''

परमआराध्य स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी कृत!
आश्रमीय साहित्य :

पुस्तकें

यथार्थ गीता	
भारतीय भाषायें	हिन्दी, मराठी, पंजाबी, गुजराती, उर्दू, संस्कृत, उड़िया, बंगला, तमिल, तेलगू, मलयालम, कन्नड़
विदेशी भाषायें	अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, नेपाली,फारसी, अरबी, स्पेनिश, नार्वेजीयन, चायनीज, चेक, इटालियन, रूसी।
शंका समाधान	हिन्दी, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी
जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति	हिन्दी, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी
अंग क्यों फड़कते है?क्या कहते है?	हिन्दी, मराठी, गुजराती, जर्मन
अनछुये प्रश्न	हिन्दी, मराठी, गुजराती।
एकलव्या का अंगूठा	हिन्दी, मराठी, गुजराती।
भजन किसका करें?	हिन्दी, मराठी, गुजराती, जर्मन, अंग्रेजी
योगशास्त्रीय प्राणायम	हिन्दी, मराठी, गुजराती।
षोडशोपचार पूजन–पद्धती	हिन्दी, मराठी, गुजराती।
योगदर्शन–प्रत्यक्षानुभूत व्याख्या	हिन्दी, मराठी, गुजराती
ग्लोरिस् ऑफ योग	अंग्रेजी।

ऑडियो सिडिज (MP3)

यथार्थ गीता	हिन्दी, मराठी, गुजराती, जर्मन, अंग्रेजी
अमृतवाणी	हिन्दी

स्वामी श्री बजानन्द जी कृत! आश्रमीय साहित्य :

सुधात्रयी	हिन्दी
योगदर्शन	हिन्दी
कुंभ पर्व का महत्व एवं शिव–तत्व	हिन्दी
सबका धर्म एक है।	हिन्दी
सभी महापुरूष एक मत	हिन्दी
संत महिमा	हिन्दी
मानव जीवन में गुरू का महत्व	हिन्दी

परमआराध्य स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी कृत! आश्रमीय साहित्य के प्रचार एवं वितरण हेतु सम्पर्क करें।

भारतीय संस्कृति सुरक्षा एवं मानव कल्याण समिति (ट्रस्ट)
3/294, सूरज विहार, लक्ष्मीबाई मार्ग, रामघाट रोड, अलीगढ़ 202001 भारत
मोबाईल : 9412459535, 9761193758
वेबसाईट : www.yatharthsandesh.com
ईमेल : mail.bsstrust@gmail.com

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम
29 ए, फ्रेंच रोड, मर्चेंट क्लब के सामने, चौपाटी,मुंबई - 400007 भारत.
वेबसाईट : www.yatharthgeeta.com
ईमेल : contact@yatharthgeeta.com